

आदितीर्थ अयोध्या

लेखक
डा० ज्योति प्रसाद जैन
पी-एच. डी., 'इतिहासरत्न'

उत्तरप्रदेश दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी
लखनऊ

आदितीर्थ अयोध्या

साकेत-विनीताऽयोध्या, कोसलपुरी अभिराम।
आदितीर्थ जिन-जन्मभू, अघहारी पुण्यधाम।।

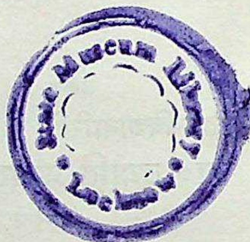
लेखक
इतिहासमनीषी विद्यावारिधि
डा० ज्योति प्रसाद जैन
पी-एच. डी., 'इतिहासरत्न'

प्रकाशक
उत्तरप्रदेश दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी
लखनऊ

पुस्तक नाम—आदितीर्थ अयोध्या
लेखक—विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन ©

प्रथमावृत्ति २०००
ऋषभ जयन्ती, महावीर नि. सं. २५०५
१९७९ ई०

मूल्य : तीन रुपये



प्रकाशक :
उ० प्र० दिगम्बर जैन
तीर्थक्षेत्र कमेटी, लखनऊ

प्राप्ति स्थान :
(१) उ० प्र० दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी
जैन धर्मशाला, चारबाग, लखनऊ
(२) श्री ऋषभदेव दिगम्बर जैन मंदिर
रायगंज, अयोध्या

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी

प्रकाशकीय

उत्तर प्रदेश दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी का गठन दिगम्बर जैन महासमिति, उत्तरांचल द्वारा सन् १९७६ की कार्तिकी पूर्णिमा को श्री हस्तिनापुर जी के वार्षिक उत्सव के अवसर पर श्रावकशिरोमणि स्व० साहू शांतिप्रसाद जी की प्रेरणा से निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया था:—

(१) उत्तर प्रदेश के समस्त दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्रों, अतिशय क्षेत्रों, प्राचीन जैन सांस्कृतिक स्थलों; स्मारकों एवं धर्मायतनों तथा धार्मिक कला कृतियों का संरक्षण, पुनरुद्धार एवं समुचित विकास करना व कराना।

(२) जो दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र जीर्णावस्था में हैं, उनका जीर्णोद्धार कराना व आवश्यक नव निर्माण करना।

(३) जैन धर्म, संस्कृति, तीर्थों एवं सांस्कृतिक स्थलों आदि के संबन्ध में उपयोगी साहित्य, फोल्डर, चित्र, लेख आदि प्रकाशित करना व अन्य सभी प्रकार से उनका प्रचार एवं प्रभावना कराना।

(४) दि० जैन तीर्थ क्षेत्रों एवं सांस्कृतिक स्थलों पर यात्रियों एवं पर्यटकों को आकर्षित करने के लिए समुचित सुविधाएँ उपलब्ध कराना।

(५) दि० जैन तीर्थ क्षेत्रों एवं सांस्कृतिक स्थलों पर पुस्तकालय, चिकित्सालय, पाठशाला, गुरुकुल, शोध संस्थान, त्यागी आश्रम, रसौढ़ा आदि जनोपयोगी संस्थाओं की स्थापना व संचालन करना या कराना।

(६) दि० जैन तीर्थों से संबंधित सभी प्रकार के विवादों को आपस में अथवा न्यायालय द्वारा समाप्त कराना।

(७) दि० जैन तीर्थ क्षेत्रों के प्रबन्ध, आमदनी, व्यय आदि की समुचित व्यवस्था कराना तथा स्थानीय या क्षेत्रीय कमेटियों के संपरीक्षित हिसाब प्रकाशित कराना व करना।

(८) दि० जैन तीर्थों एवं सांस्कृतिक स्थलों के उन्नयन एवं विकास के लिए अन्य सभी सार्वजनिक हित में कार्य करना।

यह कमेटी सोसाइटीज एक्ट १८६० के अन्तर्गत एक पंजीकृत संस्था है और उत्तर प्रदेश के दिगम्बर जैन तीर्थों के लिए भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी से सम्बद्ध है तथा उसकी शाखा के रूप में ही कार्य करती है। कमेटी का सदस्यता शुल्क निम्न प्रकार है :—

संरक्षक—रु० १००,०००.०० (यह किश्तों में भी दिया जा सकता है)
विशिष्ट सदस्य रु० ४१,००१.०० (" " ")
आजीवन सदस्य रु० ५,०००.०० (" " ")
साधारण सदस्य :—
(क) त्रैवार्षिक—रु० १०१.००
(ख) वार्षिक रु० ५१.००

कमेटी की एक योजना उत्तर प्रदेश के दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्रों के सम्बन्ध में प्रमाणिक साहित्य तथा फोल्डर प्रकाशित करना है। प्रस्तुत पुस्तक कमेटी का प्रथम पुष्प है। इसके लेखक जैन समाज के प्रख्यात विद्वान् विधावारिधि डा० ज्योति प्रसाद जैन लखनऊ हैं।

सुकुमारचन्द्र जैन, अध्यक्ष
(किशन फ्लोर मिल्स, मेरठ)

राय देवेन्द्रप्रसाद जैन, कोषाध्यक्ष
(नन्दन भवन, असुरन, गोरखपुर)

सुमेरचन्द्र पाटनी, उपाध्यक्ष
(डालीगंज, लखनऊ)

निर्मलकुमार सेठी, महामंत्री
(हरखचन्द्र फ्लोर मिल्स, सीतापुर)

अजितप्रसाद जैन, संयुक्तमंत्री
(पारस सदन, आर्य नगर, लखनऊ)

ऋषभजयन्ती
दिनांक २२ मार्च १९७९

प्राक्कथन

भारतवर्ष की आद्य नगरी, तीर्थंकरों की जन्मभूमि और जैन संस्कृति की एक प्रमुख प्रतीक, पावनपुरी अयोध्या में हमारी स्वाभाविक अभिरुचि प्रारम्भ से रही है। सन् १९४४-४५ में जब अवध-प्रान्तीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी का गठन किया गया तो उसका संयोजक-मंत्री हमें ही बनाया गया। वह कमेटी तो अधिक नहीं चल पायी, किन्तु तीर्थराज के साथ हमारा साक्षात् सम्पर्क तभी से रहता आया है। श्री दि० जैन अयोध्या तीर्थ क्षेत्र कमेटी के भी हम कई वर्ष अध्यक्ष रहे और उसकी प्रबन्धकारिणी के तथा नवगठित उ० प्र० दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी की कार्यकारिणी के भी सदस्य प्रायः रहते आये हैं। फैजाबाद जिले के नवीन राजकीय गजेटियर के लिए हमने अंग्रेजी में अयोध्या का इतिहास लिखा था, अहिंसावाणी, सन्मति संदेश आदि प्रत्रिकाओं में भी कई लेख प्रकाशित कराये थे, और भगवान् महावीर स्मृति ग्रन्थ (लखनऊ १९७५) के उत्तर प्रदेश के जैन तीर्थ-विभाग में भी अयोध्या एवं रत्नपुरी का परिचय दिया था।

कई वर्षों से श्री दि० जैन अयोध्या तीर्थ क्षेत्र कमेटी के तत्कालीन प्रधानमंत्री रायसाहब उल्फतराय जी का अत्यन्त आग्रह रहा कि अयोध्या जी पर एक अच्छी पुस्तक लिखी जाय जिसमें इस तीर्थ क्षेत्र के सर्वाङ्ग परिचय एवं इतिहास के अतिरिक्त जैन धर्म, उसकी प्राचीनता और दिगम्बरत्व पर भी प्रकाश डाला जाय। अप्रैल १९७७ में स्व० साहू शांतिप्रसाद जी के साथ जब अयोध्या की यात्रा का सुयोग हुआ तो उन्होंने भी पुस्तक के सम्बन्ध में जिज्ञासा की और उसे पूरा करने की प्रेरणा दी। तीर्थक्षेत्र की व्यवस्था से सम्बद्ध सर्वश्री सुकुमारचन्द्र जैन, निर्मल कुमार सेठी, सुमेरचन्द्र पाटनी, अजित प्रसाद जैन, जिनेन्द्रचन्द्र कागजी आदि अन्य बन्धुओं का सतत आग्रह रहा। श्री लालचन्द्र जैन टिकैतनगर तथा जिनेन्द्र कुमार मैनेजर अयोध्या तीर्थ ने आवश्यक चित्र

उपलब्ध कराये। महावीर प्रेस वाराणसी के पं० बाबूलाल फागुल्ल ने मुद्रण का भार स्वीकार किया और उ० प्र० दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के महामंत्री श्री निर्मल कुमार सेठी ने अपनी कमेटी की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रथम पुष्प के रूप में इसे प्रकाशित किया है। अतएव उक्त समस्त महानुभावों के हम हृदय से आभारी हैं।

पुस्तक के निर्माण में अनेक प्राचीन जैन एवं अजैन ग्रंथों के अतिरिक्त जिन अर्वाचीन पुस्तकों, लेखों आदि का उपयोग किया गया है, उनके विद्वान् लेखकों के हम हृदय से आभारी हैं। विशेष उल्लेखनीय संदर्भ हैं—'श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन यात्रा दर्पण' (बम्बई, १९१३), लाला सीताराम कृत 'अयोध्या का इतिहास' (प्रयाग १९३२), डा० जगदीश चन्द्र जैन कृत 'भारत के प्राचीन जैन तीर्थ (बनारस १९५२), अहिंसावाणी—तीर्थंकर ऋषभदेव विशेषांक (मई १९५७), फैजाबाद डिस्ट्रिक गजेटियर (लखनऊ १९६३), पं० बलभद्र जैन कृत 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ', भाग १(बम्बई १९७४), ज्योति प्रसाद जैन कृत उत्तर प्रदेश और जैनधर्म (लखनऊ १९७६), टोंकों, मूर्तियों आदि के शिलालेखों, अयोध्या तीर्थ कमेटी की उपलब्ध रिपोर्टों, पर्यटन विभाग की अयोध्या गाइड आदि का भी उपयोग किया गया है। पं० विमल कुमार जैन सोंरया कृत 'तीर्थराज अयोध्या' पुस्तक से अयोध्यातीर्थ पूजन कतिपय संशोधनों के साथ उद्धृत की गयी है। इसी प्रकार कविवर कल्याणकुमार 'शशि' रचित पूजन की जयमाल का अंश संशोधन पूर्वक 'माहात्म्य' शीर्षक से दिया गया है।

आशा है, यह पुस्तक 'आदितीर्थ अयोध्या' के सम्यक् परिचय, विकास, उन्नति एवं प्रभावना में सहायक होगी।

ज्योति निकुंज
चारबाग, लखनऊ—१
ऋषभ जयन्ती, २२ मार्च १९७९ ई०

ज्योतिप्रसाद जैन

विषयक्रम

परिच्छेद–१

जैनधर्म और तीर्थ

'स्याद्वादो वर्ततेऽस्मिन् पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडनं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते॥

आत्मविजेता तीर्थंकर जिनदेवों द्वारा आचरित एवं उपदेशित जैनधर्म एक सर्वप्राचीन, विशुद्ध भारतीय, मौलिक, परम्परामूलक, सनातन एवं आस्तिक धर्म है। इसकी अपनी अत्यन्त विकसित एवं समृद्ध संस्कृति है। अपना तत्त्वज्ञान, दर्शन, उपासना पद्धति, विशिष्ट आचार और विचार हैं। अपने उपास्यदेव, गुरु, शास्त्र, पर्व-त्यौहार एवं तीर्थ क्षेत्र हैं। विभिन्न भाषाओं में निबद्ध विपुल विविधविषयक साहित्य है और अपने देव-मन्दिरों, मूर्त्तियों, स्तूपों, मानस्तम्भों आदि स्मारकों के रूप में कलापूर्ण धर्मायतन हैं। अखिल भारतीय संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में उसका श्लाघनीय योगदान है। और, अहिंसा, त्याग एवं सदाचार मूलक उसकी अपनी एक विशेष जीवन पद्धति है। अहिंसा, अपरिग्रह, आत्मौपम्य और अनेकान्त इस आशावादी, पुरुषार्थ प्रधान, युक्तिसिद्ध एवं विवेकगम्य धर्म परम्परा के प्रधान स्तम्भ हैं।

संक्षेप में, जैनधर्म की प्रमुख विशेषतायें हैं :—

जैन तत्त्वज्ञान यथार्थता अर्थात् वास्तविकतावादी है। वह विश्व के समस्त इन्द्रियगोचर अथवा अगोचर पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करता है तथा उनका अत्यन्त विशद एवं वैज्ञानिक विश्लेषण और निरूपण करता है। जैन कर्म-सिद्धान्त नियतिवाद का निषेध करता है। वह भाग्य, दैव अथवा ईश्वर के आसरे हाथ पर

हाथ रखकर बैठ रहने की निंदा करता है। प्रत्युत इसके, वह पुरुषार्थ एवं स्वनिर्भरता के महत्त्व को प्रदर्शित करता है और स्फूर्तिदायक आत्मविश्वास, इच्छा शक्ति एवं मनोबल की पुष्टि करता है। अत्यधिक विकसित जैन-न्याय से परिपुष्ट जैनदर्शन उपरोक्त प्रयोजनभूत तत्त्वों का तर्कपूर्ण अकाट्यशैली में प्रतिपादन करता है। जैन न्याय-दर्शन भारतीय न्यायशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसने जैनसिद्धान्त को मात्र आज्ञाप्रधान होने के स्थान में सर्वथा परीक्षा-प्रधान एवं बुद्धिगम्य बना दिया है। जैन अध्यात्म रहस्यवादात्मक आदर्शवाद पर आधारित है। उसमें आत्मतत्त्व की उपादेयता एवं स्वात्मानुभूति के लोकोत्तरीय परमानन्द का अत्यन्त सरस एवं आकर्षक व्याख्यान है। उक्त अलौकिक ब्रह्मानन्द का रसपान करने के लिये वह मुमुक्षुजनों को सहज प्रेरणा प्रदान करता है। इन्द्रिय एवं प्राणिसंयम पर आधारित अहिंसा-प्रधान जैनाचार व्यक्ति एवं समाज दोनों के ही सर्वाधिक कल्याण का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। वह एक अत्युच्च सुविकसित मानव संस्कृति का प्रतीक एवं आधार है। व्यक्ति के लिये वह विवेकपूर्ण दृष्टि-कोण, अहिंसात्मक आचार-विचार, आत्मविश्वास एवं विचार-स्वातन्त्र्य, शरीरसाधन एवं आत्म संयम पर बल देता है, और उसे धर्माचरण में यथाशक्ति निरन्तर उद्योगी बने रहने का उपदेश देता है। व्यक्ति का अन्तर्मुखी एवं व्यवस्थित जीवन ही समष्टि के कल्याण और सामूहिक शान्ति का अमोघ उपाय है। कृत्रिम उपायों और स्वार्थप्रसूत भावनाओं से चिरशान्ति स्थापित नहीं हो सकती। अहिंसा और अपरिग्रह ही विश्वशान्ति के जनक हैं। यह धर्म वर्ग विशेष का न होकर प्राणिमात्र का समान भाव से परम धर्म है। आत्मा सत्य है, उसी में सौन्दर्य है और वह सौन्दर्य ही शिव का उद्बोधक है। अतः उस सत्यं-शिवं-सुन्दरं रूप आत्मतत्त्व की उपलब्धि, अनुभूति या दर्शन में ही व्यक्ति एवं समष्टि का कल्याण निहित है। अर्हन्तादि जिन महान् आत्माओं ने इस प्रयास

में सफल होकर परमेष्ठिपद प्राप्त कर लिया है उनकी उक्त आदर्श अवस्था को स्वयं प्राप्त करने के लिये ही उन आदर्श पुरुषों की पूजा, उपासना, गुणानुवाद, ध्यानादिक की व्यवस्था जैन क्रिया-कांड एवं धार्मिक अनुष्ठानों में की गयी है। आत्मशोधन के अर्थ स्वाध्याय, सामायिक, दान, व्रत, तप उपवासादि को यम-नियम रूप से करने का विधान है। जैन संस्कृति का साध्य मोक्ष या मुक्ति होने के कारण उसकी बाह्य प्रवृत्तियाँ भी निवृत्ति मूलक ही होती हैं। यही कारण है कि निवृत्ति प्रधान जैनधर्म के साहित्य में और उसकी मूर्ति, शिल्प आदि कलाओं में भी मुख्यतया शान्त-रस ही प्रवाहित हुआ है।

जैनत्व के सामान्य चिन्ह

१. एक जैन ऋषभादि महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकरों या जिन-देवों, अन्य सामान्य अर्हत केवलियों और मोक्ष प्राप्त सिद्ध भगवानों को अपना परम उपास्य इष्टदेव मानता है। उन्हीं की गुणानुराग रूप भक्ति, स्तवन, वन्दन, पूजा, उपासना करता है।

२. वह तीर्थंकरों के अनुयायी निर्ग्रन्थ तपस्वी साधुसाध्वियों को अपना धर्मगुरु मानता है और उनकी भक्ति, सेवा, परिचर्या करता है।

३. तीर्थंकरों के उपदेश या जिनवाणी जिन शास्त्रों में निबद्ध है उन्हें वह अपने धर्मशास्त्र मानता है और उनका सविनय श्रवण, स्वाध्याय, पठन-पाठन करता है। धर्म साधन के मार्ग में विशेषतया और लौकिक जीवन व्यापार में सामान्यतया उन धर्मशास्त्रों से प्रेरणा एवं मार्ग दर्शन प्राप्त करता है।

४. सर्वज्ञ—वीतराग-हितोपदेशी जिनदेवों द्वारा संसार के समस्त प्राणियों के हित-सुख के लिये उपदेशित तथा सर्वस्वत्यागी निष्परिग्रही तपोधन साधु-साध्वियों द्वारा आचरित अहिंसा एवं संयम प्रधान आत्मधर्म में उसकी आस्था होती है।

५. अर्हंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधुनामक पंच परमेष्ठी के नमस्कार रूप पंच नमस्कार मंत्र जैनों का महामंत्र है, जिसका प्रत्येक जैन स्मरण एवं जप करता है। उसके लिये अर्हंत सिद्ध, साधु एवं केवलीप्रणीत धर्म ही लोक में मंगल रूप एवं सर्वोत्तम पदार्थ हैं और इन्हीं चारों की शरण प्राप्त करने की वह भावना करता है।

६. समस्त सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, संयोग-वियोग को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल मानकर स्वीकार करता है तथा सदैव पाप-क्रियाओं से बचने और पुण्यकर्मों को करने का प्रयत्न करता है। क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायों का शमन, इन्द्रियदमन, व्रत-उपवास द्वारा शरीर एवं मन का साधन, दया उदारता-दानशीलता-परोपकार द्वारा लोक सेवा, सबके साथ मैत्री एवं बन्धुत्व द्वारा सहअस्तित्व और सहिष्णुता द्वारा समन्वय स्थापन में प्रयत्नशील रहता है। वह धर्म-अर्थ-काम का निर्विरोध एवं सन्तुलित साधन करने का प्रयास करता है। एक जैनी सर्वत्र सुख-शान्ति का इच्छुक होती है—वह शांति प्रिय होता है।

७. वह सर्वप्रकार के माँस, मछली, अंडे आदि सामिष आहार का सर्वथा त्यागी होता है और पूर्णतया शाकाहारी (दुग्ध-शाकाहारी) होता है। सर्वप्रकार के मद्य (शराब) तथा अन्य मादक द्रव्यों का त्यागी होता है और मधुमक्खियों को मारकर, उनके छत्तों को तोड़कर-निचोड़कर निकाले हुए मधु (शहद) का भी त्यागी होता है। अन्य अनेक तामसिक एवं अभक्ष्य पदार्थों का भी सेवन नहीं करता।

८. वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह नामक पाँच पापों का स्थूल रूप से त्यागी होता है। परस्त्री (या पर-पुरुष) सेवन, वेश्यासेवन, जुआ (द्यूत), शिकार आदि कुव्यसनों का भी त्यागी होता है।

९. एक जैनी रात्रि के समय भोजन नहीं करता, सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व ही भोजन कर लेता है तथा छना हुआ शुद्ध जल पीता है।

१०. अपने दैनिक प्रयोग में वह प्राणिहिंसा से प्राप्त वस्तुओं का भरसक उपयोग नहीं करता।

११. पारस्परिक अभिवादन में वह जुहारू, जयजिनेन्द्र, जय-जिनेश, जयवीर आदि शब्दों का प्रयोग करता है।

जैन परम्परा में तीर्थस्थान का स्वरूप और महत्त्व

'तीर्थ' शब्द का धात्वर्थ है जो तिरादे या पार करा दे, अथवा तिरने या पार हो जाने में सहायक हो, साधक हो। अतएव जिस धर्म-मार्ग के आश्रय से जन्म-मरण एवं दुःख रूप संसार-सागर से पार होकर मुक्ति प्राप्त की जा सके उसे 'धर्मतीर्थ' कहते हैं, और उसके प्रवर्त्तक, उद्धारक एवं व्यवस्थापक 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। उक्त तीर्थंकर जिनवरों के मार्ग का अवलम्बन करके आत्मकल्याण या मोक्ष की एकनिष्ठ साधना करने वाले मुनि, आर्यिका आदि सच्चे गुरु 'जंगमतीर्थ' कहलाते हैं—वे 'तरणतारण' होते हैं। उक्त तीर्थंकरों एवं अन्य मोक्षगामी महापुरुषों के जीवन से सम्बद्ध भूमियाँ, स्थल आदि 'स्थावर तीर्थ' कहलाते हैं। जैन परम्परा में ऐसे पवित्र स्थानों को ही 'तीर्थक्षेत्र' कहते हैं जहाँ तीर्थंकर भगवानों में से किसी के भी गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान-निर्वाण कल्याणकों में से एक वा अधिक हुए हों, अन्य मोक्षगामी महापुरुषों ने तप किया या सिद्धि प्राप्त की हो, जहाँ कोई विशिष्ट धार्मिक घटना घटी हो, जिस स्थान का सम्बन्ध किसी अतिशय से रहा हो, जहाँ प्राचीन प्रतिमाएँ, मन्दिर वा अन्य धार्मिक स्मारक या कलाकृतियाँ विद्य-मान हों, अथवा जो धर्म एवं संस्कृति का चिरकाल पर्यन्त विशेष केन्द्र रहा है।

पुरातन जैनाचार्यों ने इन स्थावर तीर्थों को 'क्षेत्रमंगल' बताया

है और उनकी यात्रा, बन्दना आदि को 'क्षेत्रपूजा' कहा है तथा उसका फल आत्मशुद्धि बताया है।❀

एक आचार्य ने कहा है—

इक्षोर्विकार रसपृक्तगुडेन लोके,
पिष्टोऽधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत्।
तद्वच्च पुण्यपुरुषैरुषितानि नित्यं,
स्थानानि तानि जगतामिह पावनानि ॥

जिस प्रकार जगत् में इक्षुरस से बने गुड में गूंधा गया आटा अधिक मीठा हो जाता है, उसी प्रकार पुण्यपुरुषों द्वारा सेवन किये गये स्थान भी संसारी प्राणियों के लिये पवित्र स्थान बन जाते हैं।'

आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव में कहते हैं कि 'तीर्थंकरादि पुराण पुरुषों के आश्रय से प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्र रूपी महातीर्थ कल्याणप्रद, पुण्यवर्द्धक एवं ध्यान की सिद्धि प्राप्त कराने वाले हैं।'

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥

वादीभसिंह सूरि के अनुसार, 'संत पुरुषों के संसर्ग से अन्य स्थान भी पवित्र हो जाते हैं, तब जहाँ उनका निवास रहा हो वे क्षेत्र तो पूज्य होंगे ही—उनका प्रभाव वैसा ही होता है जैसा कि पारस पथरी का लोहे पर होता है अर्थात् जिस प्रकार पारसमणि के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है उसी प्रकार इन पावन तीर्थ-

❀ षट्खण्डागम, खंड १, पृ० २८; तिलोयपण्णत्ति, गोम्मटसार आदि **में भी, यथा—**

'तत्र क्षेत्र मंगलं गुणपरिणतासन्' आदि—षट्खण्डागम

'क्षेत्रमंगलमूर्जयन्तादिकमर्हदादीनाम्'—गोम्मटसार

'जिणजम्मण-णिक्खमणे- णाणुप्पत्तीए तित्थतिण्हेसु।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्व विहाणेण कायव्वा ॥—वसुनंदि

'तत्प्राप्त्युपायत्वाच्छुचिव्यपदेशमर्हति—चारित्रसार

क्षेत्रों का सेवन करने से आत्मा कर्ममलरहित निर्मल हो जाती है :—

पावनानि हि जायन्ते स्थानान्यपि सदाश्रयात्,
सद्भिरध्युषिता धात्री संपूज्येति किमद्भुतम् ।
कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः ॥

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि 'तीर्थंकर के कल्याणकों के अवसर पर देवेन्द्र द्वारा भगवान् की पूजा की जाती है और भगवान् के निर्वाणोपरान्त वे कल्याणक भूमियाँ ही पावन तीर्थ बन जाती हैं जहाँ भक्तजन जाकर क्षेत्र की विधिवत् पूजा करते हैं—

कल्पान्निर्वाणकल्याणमन्वेत्यामरनायकाः ।
गन्धादिभिः समभ्यचर्य तत्क्षेत्रमपवित्रयन् ॥

यही बात आचार्य वसुनंदि कहते हैं। अन्यत्र भी कहा गया है कि "तीर्थ क्षेत्र के मार्ग की धूल इतनी पवित्र होती है कि उसके संसर्ग से भक्तजन कर्ममलरहित हो जाते हैं, तीर्थ यात्रा करने से भवभ्रमण समाप्त हो जाता है, तीर्थक्षेत्र पर द्रव्य लगाने से अक्षय संपदा प्राप्त होती है, और तीर्थ पर जाकर भगवान् की शरण लेने से अर्थात् उनके आदर्श को अपने जीवन में उतार लेने से, व्यक्ति जगत्पूज्य हो जाता है।'—

श्री तीर्थपान्थरजसा विरजीभवन्ति
तीर्थेषु विभ्रमणतो न भवे भ्रमन्ति ।
तीर्थव्ययादिह नराः स्थिर संपदः स्युः
पूज्या भवन्ति जगदीशमथाश्रयन्तः ॥

पावन तीर्थों की यात्रा एवं वन्दना का ऐसा अद्भुत माहात्म्य है।



संदर्भ—

१. ज्योतिप्रसाद जैन—उत्तर प्रदेश और जैनधर्म (लखनऊ, १९७६)
२. बलभद्र जैन—भारत के दिगंबर जैन तीर्थ भाग १ (बम्बई १९७४)

परिच्छेद–२

अयोध्या : स्थिति-नाम-इतिहास-पुरातत्त्व

कोसलो नाम विदितः स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ।।
अयोध्या नाम तत्रास्ति नगरी लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण पुरैव निर्मिता स्वयं ।।

उत्तर कोशल की अयोध्या नगरी समस्त आश्चर्यों का निधान यथानाम तथा गुण रही है । भारतीय संघ के उत्तर प्रदेश राज्य के पूर्वी भाग (अवध प्रान्त) के फैजाबाद जिले में फैजाबाद नगर से ७ कि० मी० तथा उत्तरी रेलवे की मेन लाइन के अयोध्या रेल स्टेशन से २ कि० मी० की दूरी पर सरयू (घाघरा) नदी के दक्षिणी तट पर स्थित अयोध्या की भारतवर्ष की प्राचीनतम महानगरियों एवं परमपावन धर्मतीर्थों में गणना है। अयोध्या की लगभग दूरी भारत की राजधानी दिल्ली से ६५० कि० मी०, उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ से १४० कि० मी०, इलाहाबाद (प्रयाग) से १६० कि० मी०, वाराणसी से १९२ कि० मी० और गोरखपुर से १६० कि० मी० है—गोरखपुर से आने वालों को सरयू के उस पार मनकापुर रेल स्टेशन पर उतरना होता है। सरयू पर पक्का पुल है। उपरोक्त नगरों से मोटर बस द्वारा सड़क मार्ग से भी अयोध्या पहुँचा जा सकता है।

नाम

प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य में इस नगरी के अनेक नाम प्राप्त होते हैं, यथा अयोध्या, साकेत, विनीता, प्रथमपुरी, इक्ष्वाकु-

भूमि, कोशला, कोशलपुरी, अउज्झा, अजुध्या, औध, अवधपुरी, अवध आदि।

इतिहास

आधुनिक इतिहासकार भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का पुर्ननिर्माण मुख्यतया ब्राह्मण परम्परा की पौराणिक अनुश्रुतियों के आधार से करते हैं। उक्त अनुश्रुतियों के अनुसार वैवस्वत् मनु इस महादेश का प्रथम राजा था। स्वयं मनु ही भारत की इस प्रथमपुरी का निर्माता था। उसका ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु अयोध्या का प्रथम राजा हुआ। वही प्राचीन भारतीय क्षत्रियों के इक्ष्वाकु अपरनाम सूर्यवंश का संस्थापक था। उसके एक सौ पुत्र थे। उसके उपरान्त देश उन पुत्रों में बँट गया। अयोध्या में विकुक्षि अपरनाम शशाद का राज्य हुआ। वंश का छठा राजा पृथु था जिसके नाम पर यह धरा 'पृथ्वी' कहलाई। उसके प्रपौत्र श्रावस्त ने श्रावस्ती बसाई। कई पीढ़ियों के पश्चात् इस वंश में मान्धाता नाम का प्रतापी सम्राट् हुआ। वंश का ३१ वाँ नरेश हरिश्चन्द्र था जो अपनी सत्यनिष्ठा के लिये लोकप्रसिद्ध हुआ और ३८ वाँ नरेश सगर प्रसिद्ध चक्रवर्ती हुआ। उसके प्रपौत्र भगीरथ को हिमालय से गंगा नदी को मैदान में लाने का श्रेय दिया जाता है। भगीरथ का प्रपौत्र अम्बरीष भारी भगवद् भक्त था—एक अनुश्रुति के अनुसार आगे चलकर उसी की वंश परम्परा में अग्रवालों का पूर्वज महाराज अग्रसेन हुआ। अम्बरीष का पौत्र ऋतुपर्ण विदर्भ नरेश नल का मित्र था। कई पीढ़ियों के उपरान्त अयोध्या का प्रतापी इक्ष्वाकु नरेश दिलीप द्वि. खट्वाङ्ग हुआ, जिसका पुत्र दिग्विजयी रघु था। रघु का पौत्र और अज का पुत्र अयोध्यापति दशरथ था जिसके सुपुत्र राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न थे। वाल्मीकि की रामायण में इन्हीं महाराज रामचन्द्र के काल की घटनायें वर्णित हैं। रामराज्य भारत के लिये एक स्पृहणीय आदर्श

बन गया राम के उपरान्त उनका ज्येष्ठ पुत्र कुश अयोध्या का राजा हुआ और कनिष्ठ पुत्र लव श्रावस्तीका राजा हुआ। कुश ने भी अयोध्या का परित्याग करके कुशस्थली को अपनी राजधानी बनाया। अयोध्या उजाड़ हो गई। कुश ने उसे पुनः बसाने का प्रयत्न भी किया। उसकी १७ वीं पीढ़ी में अयोध्या नरेश हिरण्याभ कौशल्य जैमिनी मुनि का शिष्य था और उसने याज्ञवल्क्य को योग विद्या सिखाई थी। राम की ३० वीं पीढ़ी में वंश का ९३ वाँ राजा बृहद्बल महाभारत युद्ध में कौरवों की ओर से लड़ता हुआ मारा गया। उसके उपरान्त दिवाकर नाम के एक अयोध्या नरेश का नाम मिलता है। इस नगर का अन्तिम (१२५ वाँ) इक्ष्वाकुवंशी नरेश सुमित्र था, जिसका अन्त करके ४ थी शती ई० पू० में मगध के सम्राट् नन्दिवर्धन ने अयोध्या राज्य को मगध साम्राज्य में मिला लिया। उसने यहाँ एक स्तूप भी बनवाया था जिसकी पहचान वर्तमान मणिपर्वत से की जाती है।

तदुपरान्त कोशलदेश और उसकी अयोध्या नगरी क्रमशः नन्दों और फिर मौर्यों के मगध साम्राज्य का अंग रहे। मौर्यों के उपरान्त मगध में शुंगों का शासन हुआ और उनकी एक शाखा का अयोध्या पर शासन रहा लगता है, जिसका स्थान कुछ ही काल पश्चात् एक स्थानीय राज्यवंश ने ले लिया प्रतीत होता है। ईसा की पहली से तीसरी शती पर्यन्त अयोध्या कुषण सम्राटों के राज्य का अंग रही। तदनन्तर पुनः एक स्थानीय वंश का राज्य रहा। चौथी से छठी शती ई० पर्यन्त वह गुप्त साम्राज्य का अंग रही और प्रारम्भ में तो गुप्त साम्राज्य की प्रधान नगरी भी रही। तदुपरान्त मौखरि एवं वर्धन वंशों का अधिकार रहा और ८ वीं शती के प्रारम्भ में कन्नौज सम्राट् यशोवर्मन का। इसके पश्चात् १०वीं शती के अन्त पर्यन्त अयोध्या गुर्जर-प्रतिहार सम्राटों के राज्य का अंग रही। प्रायः इसी काल में यहाँ श्रीवास्तव राजाओं का

राज्य रहा और ११ वीं शती के अन्त से १२ वीं के अन्त तक गाहड़वालों का शासन रहा। गाहड़वालों का पतन होने पर भर सरदारों ने अयोध्या प्रदेश के विभिन्न भागों पर अधिकार रक्खा। राजपूतों और मुसलमानों ने भरों का उच्छेद किया।

१३ वीं शती के प्रारम्भ में दिल्ली में तुर्कों की सत्ता स्थापित होते ही उन्होंने अयोध्या के राजनैतिक महत्त्व को समझा, वे अयोध्या का उच्चारण औध या अवध करते थे और अवध (अयोध्या) को ही उन्होंने अपने सूबा अवध का शासन-केन्द्र बनाया। ग़ुलाम, खल्जी, तुगलुक, सैयद, लोदी और सूर पठानों के शासनकाल में एक के बाद एक महत्त्वपूर्ण मुसलमान सरदार अवध के सूबेदार होते रहे। बीच में १५ वीं शती में जौनपुर के शर्की सुलतानों का भी अयोध्या पर कुछ काल तक आधिपत्य रहा। १६ वीं शती में बाबर द्वारा मुग़ल शासन की स्थापना हुई। इस मुस्लिम शासन काल में अयोध्या का प्राचीन सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्त्व प्रारंभिक तीन शताब्दियों में तो समाप्त प्रायः हो गया था, किन्तु मुगल काल के प्रारम्भ से ही रामभक्ति सम्प्रदाय का यह नगर गढ़ बनता गया और उत्तर मुग़ल काल में अर्थात् अवध के नवाबों के शासन काल में तो वह पूर्णतया एक धर्मतीर्थ ही बनकर रह गया।

सन् १७२२ ई० में जब मुहम्मद अमीन सादतखाँ बुरहानुल्मुल्क की नियुक्ति अवध के सूबेदार के रूप में हुई तो उसने अयोध्या में ही आकर अपना डेरा डाला था। अवध के नवाबी राज्यवंश का वह संस्थापक था। अवध की यह नवाबी ११वें नवाब वाजिद अलीशाह के साथ १८५६ ई० में समाप्त हुई। प्रथम नवाब ने ही अयोध्या से ४-५ मील पश्चिम की ओर अपनी शिकारगाह व एक बंगला बनवाया था। छावनी भी वहीं स्थानांतरित हो गई। दूसरे नवाब सफदरजंग के समय में फैजाबाद नाम से वहाँ एक

कस्बा भी बसने लगा, और तीसरे नवाब शुजाउद्दौला ने तो उसे एक रमणीक नगर बनाकर अपनी राजधानी ही बना लिया। किन्तु उसके उत्तराधिकारी आसुफुद्दौला ने फैजाबाद का भी परित्याग करके लखनऊ को राजधानी बनाया। इस प्रकार अयोध्या का राजनीतिक महत्त्व तो फैजाबाद राजधानी बनने में ही समाप्त हो गया था, किन्तु अवध के ये नवाब या बादशाह अयोध्या के धर्मस्थानों के प्रति सहिष्णु ही रहे, और धर्मतीर्थ के रूप में उसका आदर करते रहे। तथापि, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच यहाँ इस युग में साम्प्रदायिक संघर्ष भी हुए। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य समर की विफलता के फलस्वरूप यहाँ अंग्रेजी शासन स्थापित हुआ और अयोध्या के नवाबी उपनगर फैजाबाद को एक जिले का केन्द्र बनाया गया। सन् १९४७ ई० में देश को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी यही स्थिति चल रही है—फैजाबाद जिले का प्रशासकीय केन्द्र है, और अयोध्या रामभक्त हिन्दुओं तथा जैनों का पवित्र तीर्थस्थान है। अनगिनत मन्दिर और धर्मशालाओं के अतिरिक्त एक राजकीय पर्यटक केन्द्र एवं निवास भी यहाँ हैं। नगर अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र है।

पुरातत्त्व

अयोध्या एक अत्यन्त प्राचीन स्थान तो है ही किन्तु अपने धार्मिक महत्त्व के कारण वह कभी सर्वथा उजाड़ और परित्यक्त नहीं हुई—बस्ती बनी रही। शायद यही कारण है कि यहाँ से प्राचीन पुरावशेष अत्यल्प मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। आसपास छोटे-बड़े कई टीले है, उनकी, विशेषकर मणिपर्वत की, खुदाई में प्राचीन पुरातत्त्व के मिलने की संभावना है। यो राम जन्म स्थान के मंदिर के कसौटी के स्तम्भ यह सूचित करते हैं कि उस स्थान पर संभव है लगभग २००० वर्ष पूर्व कोई विशाल मंदिर रहा

होगा। अन्य सब मंदिर व धर्मायतन मध्यकालीन व आधुनिक युगीन है। कहा जाता है कि अवध के बादशाह नासिरुद्दीन हैदर के समय में मणि पर्वत से नन्द युग का एक शिलालेख प्राप्त हुआ था, किन्तु अब उसका कहीं कोई पता नहीं है (पी० कार्नेगी-ए हिस्टोरिकल स्केच आफ तहसील फैजाबाद १८७०, पृ० २४ व फु० नो०)। मणिपर्वतके दक्षिण ओर स्थित एक खेत से अयोध्याके शुंगकालीन प्रथम शती ई० पू० के राजा धनदेव का संस्कृत शि० ले० भी मिला है (फैजाबाद गजेटियर पृ० ३२), १८६५ में अयोध्या के निकट प्राचीन सिक्कों का एक दफीना मिला था, जिसमें तीन प्रकार के प्राचीन सिक्के थे, जो स्थानीय राजाओं के प्रतीत होते हैं। २ री-१ ली शती ई० पू० के सिक्कों में एक ओर वृषभ या हस्ती, दूसरी ओर चैत्यवृक्ष, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि जैन चिन्ह हैं। तीसरे वर्ग के सिक्के २ री-४ थी शती ई० के स्थानीय मित्रवंशी राजाओं के हैं। इनमें भी वृषभ, नन्दिपद आदि चिन्ह हैं। फैजाबाद तहसील के भिटौरा गाँव से मौखरि नरेशों के सिक्के मिले हैं, स्वयं अयोध्या में भी ७ वीं शती ई० के हर्ष वर्धन के भी सिक्के मिले हैं। गाहडवाल काल का भी कुछ पुरातत्त्व है। भरों के डीह भी हैं। तदनन्तर मुस्लिम शासनकाल प्रारम्भ होता है जब अधिकांश प्राचीन देवालय, भवन आदि शनैः शनैः विध्वस्त होते गये, और नये बनते गये। मध्यकाल के, प्रायः १० वीं शती से लेकर १९ वीं शती ई० के कई जैन प्रतिमालेख, शिलालेख आदि भी उपलब्ध हैं। पुरातात्त्विक दृष्टि से अयोध्या एवं उसके आस-पास का क्षेत्र प्रायः उपेक्षित रहा है। उसके सम्यक् उत्खनन, शोध-खोज एवं अनुसन्धान के लिए पर्याप्त गुंजाइश प्रतीत होती है।

परिच्छेद—३

अयोध्या का सांस्कृतिक महत्त्व

'सर्वाश्चर्यनिधानमुत्तरकौशलेष्वयोध्येति यथार्थाभिधाना नगरी।'

प्राय: सभी अतिप्राचीन एवं प्रसिद्ध नगरियों की भांति अयोध्या भी एक महान् तीर्थ एवं सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विख्यात रहती आई है। जैन, हिन्दू और बौद्ध, यहाँ तक कि मुसलमान भी इस स्थान को अपने-अपने धर्म से संबन्धित एक पवित्र तीर्थ स्थल मानते हैं। उन सभी के धर्मायतन यहाँ हैं और तत्सम्बंधी अपनी-अपनी अनुश्रुतियाँ एवं साहित्योल्लेख हैं। अयोध्या की ऐतिहासिक प्राचीनता एवं सांस्कृतिक महत्त्व को सूचित करने के लिये एक यही तथ्य पर्याप्त है कि सुवर्ण भूमि (बर्मा), स्याम (मलय) तथा सुदूरपूर्व के अन्य भारतीय उपनिवेशों एवं राज्यों में भी अबसे डेढ़ सहस्त्र वर्ष पूर्व इस नाम के नगर बसाये गये थे, अथवा उन देशों के कई प्रमुख नगरों के नाम बदलकर अयोध्या या अयोध्यापुर रखे गये। स्याम देश की वर्तमान जूथिया या यूथिया वहाँ की प्राचीन अयोध्या का ही अपभ्रंश है।

मुसलमानों के 'मदीनुत्तुल औलिया' ग्रन्थ के अनुसार अयोध्या में हजरत आदम के समय से वर्तमान पर्यन्त अनेक औलिया और पीर होते आये हैं। एक अनुश्रुति के अनुसार तो स्वयं आदम और उसके दो बेटों, अयूब और शीस का सम्बन्ध अयोध्या से रहा है। अबुल फ़ज़ल 'आईने अकबरी' में लिखता है कि 'इस नगर में एक ६ गज लंबी और दूसरी ७ गज लंबी, दो बड़ी क़ब्रे हैं जिनके विषय में अनेक विचित्र बातें कही जाती हैं। अयोध्या में एक स्थान खुर्दमक्का (छोटा मक्का) कहलाता है, और एक कब्र ९

गज लम्बी है जिसे जल प्रलय सम्बन्धी मुसलमानी अनुश्रुति के अनुसार हजरत नूह की कब्र बताते हैं। कुछ लोग इसे 'नौगजा' या 'गंजे शहीदां' (शहीदों की समाधि) भी कहते हैं। अनेक मध्यकालीन पीरों (मुसलमान फकीरों) के भी मज़ार यहाँ हैं। वस्तुतः, ११ वीं शती ई० से पूर्व मुसलमानों ने तो अयोध्या का नाम भी शायद नहीं सुना था। महमूद गजनबी के भानजे सैयद सालार मसऊद गाजी ने १०३२ ई० के लगभग अयोध्या पर आक्रमण किया था, किन्तु अयोध्या के जैनधर्मानुयायी श्रीवास्तव राजाओं ने उसे यहाँ से खदेड़ भगाया था, ऐसी अनुश्रुति है। सन् १२०० ई० के लगभग सुल्तान मुहम्मद गोरी के भाई मखदूमशाह जूरन गोरी ने अयोध्या पर आक्रमण किया और नगर के सर्वप्रसिद्ध मंदिर आदिनाथ जिनालय को ध्वस्त करके वहाँ एक मस्जिद बना दी। वह स्वयं यहीं मारा गया और वह स्थान शाहजूरन का टीला कहलाने लगा। कालान्तर में एक छोटा सा जिन मन्दिर वहाँ फिर बन गया, जिसका चढावा शाहजूरन के वशंज ही, जो अयोध्या के बकसरिया टीले में रहते रहे, लेते रहे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो ने भी कुछ वर्ष अयोध्या में बिताये थे। अन्य भी अनेक मुसलमान फकीर यहाँ होते रहे हैं। सन् १५२८ ई० में मुगल बादशाह बाबर ने अयोध्या पर चढ़ाई की और यहीं के दो प्रसिद्ध मुसलमान फकीरों, फजल अब्बास कलन्दर और मूसाआसिकान के के आग्रह पर उसने अपने सिपहसालार मीर बकी के द्वारा अयोध्या के प्रसिद्ध राम मंदिर (रामकोट) को तुड़वाकर उसके स्थान पर एक मस्जिद बनवा दी। अकबर व जहाँगीर के उदार शासन काल में कुछ हिन्दू व जैन मंदिर यहाँ फिर बन गये, जिन्हें औरंगजेब ने तुड़वा दिया। अतएव वर्तमान हिन्दू व जैन मंदिरों में से, अधिकांश अवध के नवाबों के शासनकाल में तथा ब्रिटिश शासनकाल में बने हैं।

इसमें सन्देह नहीं है कि ११ वीं-१२ वीं शती ई० के जिन

प्रारम्भिक मुसलमानों का परिचय अयोध्या के साथ हुआ वह उसके जैन रूप में ही हुआ क्योंकि उस समय तक वहाँ जैन धर्म का ही प्राधान्य रहा प्रतीत होता है। राजा भी प्रायः जैनी थे और जनता भी अधिकतर जैन थी। प्रमुख धर्मायतन भी भगवान् आदिनाथ आदि तीर्थंकरों के जिन मंदिर ही थे। मुसलमानों ने तत्संबंधी जैन अनुश्रुतियों को ही वहाँ सुना और उन्हें ही प्रचलित भारतीय परम्परा जाना। हजरत आदम और उसके दो बेटे अयूब एवं शीस के सम्बन्ध से अयोध्या की जो मुसलमानी अनुश्रुतियां प्रचलित हुईं वे जैन अनुश्रुति के अयोध्या निवासी आदिपुरुष भगवान् आदिदेव (ऋषभ) एवं उनके पुत्रद्वय, भरत एवं बाहुबलि पर ही आधारित रही प्रतीत होती हैं। जैन पुराणों में इन महापुरुषों के विशालकाय के जो वर्णन हैं, और संभवतया उनकी विशालकाय प्रतिमाएं भी तब तक वहाँ विद्यमान थीं, उन्हीं के आधार पर उनकी छः, सात या नौ गज लम्बी कबरें होने की कहानियां प्रचलित हुई प्रतीत होती हैं। १४ वीं-१५ वीं शताब्दी से अयोध्या में रामानन्दी सम्प्रदाय का प्रभाव प्रचार बढ़ने तथा जैन धर्म का शनैः शनैः ह्रास हो जाने पर भी ये अनुश्रुतियाँ तो प्रचलित रहीं किन्तु लोग उनके मूलाधारों को प्रायः भूल गये। शासन तो मुसलमानी था ही।

सिखधर्म के संस्थापक गुरु नानक देव भी अयोध्या आये बताये जाते हैं, और कहा जाता है कि प्रसिद्ध गुरु गोविन्द सिंह भी यहाँ आये और कुछ काल रहे थे। उनकी स्मृति में एक सिख गुरुद्वारा भी अयोध्या में बना है।

बौद्ध धर्म के साथ भी अयोध्या का संबंध पाया जाता है। बौद्ध साहित्य में इस नगर के दो अन्य नाम--साकेत और विशाखा भी उपलब्ध होते हैं। दिव्यावदान के अनुसार 'स्वयमागतं स्वयमागतं साकेत साकेत मिति संज्ञा संवृत्ता', अर्थात् यह आप ही

आया, आप ही आया, इसलिये इसका साकेत नाम पड़ गया। साकेत या विशाखा में बुद्ध भगवान् द्वारा कई चातुर्मास बिताने तथा वहाँ एकदा उनकी दांतून से उत्पन्न हो जाने वाले वृक्ष के उल्लेख भी मिलते हैं। चीनी यात्री फाह्यान ने इस दांतून वृक्ष का साकेत (शाची) में होना सूचित किया है, और हुएनसांग ने विशाखा (पिसोकिया) में। हुएनसांग ने ओयूटो या योयुटो नाम से अयोध्या का एक पृथक् नगर के रूप में भी वर्णन किया है। अतः यह बात संदिग्ध हो जाती है कि बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अयोध्या, साकेत और विशाखा एक ही नगर के नामान्तर थे। वस्तुतः बौद्ध अनुश्रुति में कोसल महाजन पद की राजधानी श्रावस्ती ही बताई गयी है—अयोध्या की गणना तत्कालीन प्रमुख नगरों में भी नहीं की गई। स्वयं बुद्ध के समय में भी कोसल नरेश प्रसेनजित की राजधानी श्रावस्ती में ही अनाथपिंडक द्वारा निर्मित वह जेतवन बिहार था जिसमें बुद्ध ने अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे तथा अनेक सूत्रों का प्रणयन किया था। विशाखा नाम की उपासिका का प्रसिद्ध पूर्वाराम भी श्रावस्ती में या उसी के निकट था। अतएव विशाखा भी श्रावस्ती का अथवा उनके निकटवर्ती स्थान का अपर नाम रहा होगा। बुद्ध के नाना अंजनदेव के अंजनबाग के भी श्रावस्ती के निकट ही स्थित होने की संभावना है। बौद्धों ने साकेत को भी अयोध्या से पृथक् रहा सूचित किया है, जिससे यह अनुमान किया जाता है कि संभव है बौद्धों का साकेत अयोध्या से भिन्न था। फाह्यान ने तो अयोध्या का कोई उल्लेख ही नहीं किया, हुएनसाँग ने साकेत और विशाखा से पृथक् जो अयोध्या का वर्णन दिया है उससे प्रतीत होता है उसके समय (७ वीं शती ई०) में अयोध्या में कुछ प्राचीन बौद्ध स्तूप, संघाराम आदि तथा हीनयान सम्प्रदाय के कुछ बौद्धभिक्षु विद्यमान थे। कनिष्क कालीन प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष, बोधिसत्व असङ्ग तथा बौद्धाचार्य वसुबन्धु (५ वीं शती ई०) के साथ भी इस नगर का सम्बन्ध रहा बताया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के समय में तथा उसके कई सौ वर्ष बाद तक भी अयोध्या आदिनाथ ऋषभ आदि जैन तीर्थंकरों की ही उपासना का केन्द्र थी। 'साकेत' नाम की बौद्धों द्वारा की गई व्युत्पत्ति भी इस नगर का स्वतः निर्मित या आदिमकालीन होने, अर्थात् मनुष्यकृत न होने की जैन अनुश्रुति का समर्थन करती है। जैन केन्द्र होने के कारण ही संभवतया बुद्ध स्वयं इस नगर में नहीं गये, और कोसल राज्य की नवीन राजधानी श्रावस्ती को ही उन्होंने अपना केन्द्र बनाया। इसी कारण बौद्धों के धार्मिक साहित्य में स्वयं अयोध्या का प्रायः कोई स्थान नहीं है। यहाँ तक कि बौद्धों की रामकथा (दशरथ जातक) में राम के पिता दशरथ को काशी का राजा सूचित किया है और सीता को दशरथ की पुत्री बताया है।

ब्राह्मणों के वेदत्रयी में स्पष्टतः न कहीं कोशल का नाम आया है और न अयोध्या का ही। अथर्ववेद (खंड २) में केवल एक स्थान में लिखा है कि "देवताओं की बनाई अयोध्या में आठ महल, नवद्वार और हिरण्मय धन का भंडार है, यह स्वर्ग की भाँति समृद्धि सम्पन्न है।" शतपथ ब्राह्मण में केवल एक स्थान पर कोशल नाम आया है। इनके अतिरिक्त वैदिक, उत्तर वैदिक, औपनिषदिक, सूत्र आदि प्राचीन ब्राह्मणीय साहित्य में अयोध्या का प्रायः कोई उल्लेख नहीं मिलता। पाणिनि के एक सूत्र में भी कोसल का उल्लेख है (वृद्धाकोसलाजादाञ्ञ्यङ्, ४-१-१७१)। पातंजलि महाभाष्य में यवनों द्वारा साकेत पर आक्रमण करने का उल्लेख है (अरुणद् यवनः साकेतम्)। अयोध्या के विषय में ब्राह्मण परम्परा के प्राचीन साहित्य के इस मौन का यही कारण प्रतीत होता है कि यह नगर और प्रदेश जिन इक्ष्वाकु अथवा सूर्यवंशी प्राचीन भारतीय क्षत्रियों की निवास भूमि थी वे ब्राह्मण वैदिक सभ्यता के प्रभाव में बहुत पीछे से आये। उत्तर वैदिक-

काल पर्यन्त उनमें श्रमणों या तीर्थंकरों की उपासना का ही प्राधान्य था ।

दूसरी-पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व के लगभग महर्षि बाल्मीकि के द्वारा रामायण ग्रन्थ के रचे जाने के उपरान्त ब्राह्मण परम्परा ने अयोध्या के प्राचीन महापुरुष महाराज रामचन्द्र को अपनाना प्रारंभ कर दिया । इस काल में उत्तरापथ के स्वामी मगध के ब्राह्मण जातीय शुंग नरेश थे । बौद्धों और जैनों पर इन्होंने बड़े अत्याचार किये बताये जाते हैं । ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार का श्रेय इन्हीं शुंग राजाओं को दिया जाता है । इसी काल से यज्ञ-याग एवं कर्मकांड प्रधान प्राचीन वैदिक तथा अध्यात्म-प्रधान उत्तर वैदिक औपनिषदिक ब्राह्मण धर्म ने पौराणिक हिन्दू धर्म का रूप लेना प्रारम्भ कर दिया । अतः प्रायः इसी समय से अयोध्या भी इस नवीन हिन्दू धर्म का केन्द्र बनना प्रारंभ हुई । गुप्तकाल में पौराणिक धर्म एवं वैष्णव अवतारवाद के विकास, प्रचार एवं प्रसार के फलस्वरूप अयोध्या की गणना भी हिन्दू धर्म के प्रमुख तीर्थों में होने लगी । वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त, भास के प्रतिमा आदि नाटकों, कालिदास के रघुवंश, कुमारदास के जानकी हरण, भारवि के उत्तर रामचरित आदि रामकथा सम्बन्धी ब्राह्मणीय संस्कृत साहित्य ग्रन्थों ने जिस रामकथा से जनता को परिचित कराना प्रारम्भ कर दिया उसी के नायक मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र को विष्णु, भागवत, पद्म आदि हिन्दू पुराणों ने स्वयं विष्णु भगवान् का पूर्णावतार घोषित किया । उनका पृथक् से पौराणिक वर्णन करने के लिये पद्म पुराण की रचना की गई । स्वभावतः उन भगवान् की जन्म एवं लीला भूमि अयोध्या शनैः-शनैः हिन्दू धर्म का प्रमुख धर्मतीर्थ बन गई । उसके सात प्रमुख तीर्थ स्थानों में ही उसे प्रथम स्थान नहीं दिया गया वरन् उसे धर्मतीर्थ रूपी विष्णु का मस्तक सूचित किया गया ।

किन्तु राम का पद्म नाम मूलतः जैन है। वाल्मीकि रामायण के कुछ ही उपरान्त रची जाने वाली जैनी रामकथा अर्थात् विमलार्य के प्राकृत पउमचरिय अपरनाम राहवचरियं (राघव चरित) तथा रविषेणीय जैन पद्मपुराण या पद्मचरित के अनुकरण पर ही हिन्दू पद्मपुराण का नामकरण हुआ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के विष्णु, भागवत आदि प्रमुख पुराणों के अनुसार अयोध्या के निर्माता एवं प्रथम स्वामी वैवस्वत मनु थे, उनके पुत्र इक्ष्वाकु से ही इक्ष्वाकु एवं सूर्यवंश की उत्पत्ति हुई थी, स्वायंभू मनु के प्रपौत्र नाभिराय की धर्म-पत्नी मरुदेवी से उत्पन्न ऋषभदेव विष्णु भगवान् के एक प्रारंभिक अवतार थे, महान् योगी थे और अहिंसा-प्रधान योगधर्म के सर्वप्रथम प्रचारक थे। उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती इस देश के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् थे और उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हिन्दू पुराणों के ये वर्णन प्राचीन जैन अनुश्रुतियों का अक्षरशः समर्थन करते हैं। नाभिराय इस कल्पकाल के अन्तिम मनु थे, उनकी पत्नी मरुदेवी की कुक्षि से ही आदि पुरुष ऋषभदेव का जन्म हुआ था। उन्होंने ही कर्मभूमि का प्रवर्तन किया, उनके जन्म के उपलक्ष में ही देवताओं ने आदि नगरी अयोध्या का निर्माण किया था, वे प्रथम तीर्थंकर थे। उन्हीं का अपरनाम इक्ष्वाकु था और वे ही इक्ष्वाकु अथवा सूर्यवंश के जनक थे, उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती ही सभ्य संसार के प्रथम सम्राट् थे और उनके नाम पर ही इस देश का नामकरण हुआ, इत्यादि समस्त बातें प्राचीनतम जैन अनुश्रुतियों में जिस मूलरूप में मिलती हैं उन्हीं का अनुकरण हिन्दू पौराणिक साहित्य में प्रभूत पाया जाता है। इस सबसे स्पष्ट है कि धर्मतीर्थ के रूप में अयोध्या को हिन्दू धर्म में जैन धर्म के द्वार से ही अपनाया गया है।

किन्तु शुंगकाल से ही उत्तरापथ के प्राचीन मध्यदेश में जैन-

धर्म का शनैः शनैः ह्रास होने लगा, बौद्ध धर्म भी यहाँ-से-७वीं-८वीं शताब्दी के उपरान्त प्रायः तिरोहित हो गया। इसके विपरीत ब्राह्मण धर्म अपने नवीन पौराणिक वैष्णव, शैव आदि रूपों में उत्तरोत्तर बल पकड़ता गया। गुप्तकाल में तथा उसके पश्चात् राजपूत युग में उसकी विशेष उन्नति हुई। मुसलमान शासनकाल में उत्तर भारत में जैनों की रही-सही छोटी-मोटी शासन सत्ताएँ भी समाप्त हो गईं। यहाँ के जैनी प्रायः वणिक् वर्गों में ही सीमित रहते चले गये। इसी काल में दक्षिण में आचार्य रामानुज ने वैष्णव सम्प्रदाय का विशेष प्रचार किया। उन्हीं के एक परम्पराशिष्य स्वामी रामानन्द ने उत्तर भारत में राम की सगुण उपासना का प्रभूत प्रचार किया और १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित-मानस ने तो रामभक्ति का प्रवाह वेग से प्रवाहित कर दिया। फलस्वरूप राम की जन्म एवं लीला भूमि अयोध्या रामानंदी सम्प्रदाय एवं रामभक्ति का प्रधान केन्द्र बन गई। इस सम्प्रदाय के अनेक मन्दिर और मठ यहाँ स्थापित हो गये और जैनों के कतिपय धर्मायतनों के अतिरिक्त अन्य चिह्न वहाँ से प्रायः समाप्त होते चले गये। उनका वह एक तीर्थ स्थान मात्र रह गया, जबकि रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय का वह एक तीर्थ ही नहीं प्रधान गढ़ एवं सांस्कृतिक केन्द्र बनता चला गया। आज यह रामपुरी अयोध्या वैष्णव सम्प्रदाय की रामाश्रयी शाखा का प्रमुख एवं पावन तीर्थ है।

जैन परम्परा में प्रथमपुरी अयोध्या की मान्यता एक सनातन तीर्थ के रूप में सदैव से रहती आई है। प्रत्येक कल्पकाल की अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के दुःखमा-सुखमा (चतुर्थ) काल में इस भरत क्षेत्र में एक-एक करके चौबीस तीर्थंकर जन्म लेते हैं और इन समस्त तीर्थंकरों का जन्म इसी अयोध्या नगरी में होता है। वर्तमान कल्पकाल की चालू अवसर्पिणी हुंडावसर्पिणी कहलाई, क्योंकि उसमें अनेक बातें सनातन नियम से हटकर अपवादरूप

हुईं। अस्तु, इस बार अयोध्या में केवल पाँच तीर्थंकरों का ही जन्म हुआ, जिनमें युगादिदेव प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने भी इसी पावन नगरी में जन्म लिया था। अतएव युगारंभ से ही अयोध्या जैन धर्म और संस्कृति का प्रमुख केन्द्र तथा परम पावन तीर्थ-स्थल रहती आई है। जैन साहित्य एवं अनुश्रुति में अयोध्या के अनगिनत उल्लेख एवं वर्णन प्राप्त हैं और जैन जनमानस में इस तीर्थ का बड़ा माहात्म्य है। देश के कोने-कोने से सहस्रों भक्त जैन यात्री इस तीर्थक्षेत्र की वन्दना के लिए आते रहे हैं और आज भी आते हैं।

■

परिच्छेद-४

साहित्यगत वर्णन

आसन् विद्याधरा देवा इन्द्रौ पद्माभचक्रिणौ ।
अयोध्यानगरी स्वर्गो, वर्णना तत्र कीदृशी ॥१॥
साकेतविषय: सर्व: सर्वथा पश्यताऽधुना ।
विलम्बयितुमुद्युक्तश्चित्रं गीर्वाणविष्टपम् ॥२॥
मध्ये शक्रपुरीतुल्या नगरी यस्य राजते ।
अयोध्या निलयैस्तुङ्गैरशक्यपरिवर्णनैः ।

—पद्मपुराण रविषेण:

प्राचीन भारतीय साहित्य में महानगरी अयोध्या के अनेक वर्णन प्राप्त हैं। अयोध्या को जिस कोशल देश, महाजनपद या राज्य की राजधानी बताया है, उसकी गणना प्राचीन भारत के १६ महाजनपदों, १८ महाराज्यों और २५॥ आर्य देशों में की गई है। कहीं-कहीं इस कोशल या कोसला को दक्षिण कोशल से भिन्न सूचित करने के लिए उत्तर कोशल नाम से भी उल्लेखित किया गया है। स्वयं अयोध्या को गणना दश प्राचीन महाराजधानियों एवं उत्तरापथ की पाँच महानगरियों में की गई है।

एक प्रसिद्ध पुरातन श्लोक के अनुसार सात मोक्षदायिका नगरियों में प्रथम स्थान अयोध्या का है—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका: ॥

अथर्ववेद (दशम स्कन्ध) के अनुसार 'यह देवताओं की नगरी जो आ ठचक्र और नौ द्वारों से शोभित है जिसका स्वर्ग के समान हिरण्यमय कोश दिव्य ज्योति से आवृत है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्यमयकोषः स्वर्गज्योतिषावृतः ॥

इसी वेद में अन्यत्र भी कहा गया है कि यह अयोध्यापुरी सभी बैकुण्ठों का मूलाधार है, मूल प्रकृति से भी श्रेष्ठ है, सद्रूप है, ब्रह्ममय है, रजोगुण रहित है और दिव्यरत्न कोष से पूरित है ।

रुद्रयामल ग्रन्थ के अनुसार यदि अवन्तिकापुरी विष्णु भगवान् का चरण है, कांची कटिभाग है, द्वारिका नाभि है, मायापुरी हृदय है, मथुरा ग्रीवामूल है, वाराणसी नासिका है तो अयोध्या उनका मस्तक ही है (एतद् ब्रह्मविदो वदन्ति मुनयोऽयोध्यापुरी मस्तकम्) वशिष्ठ संहिता में समस्त लोकों द्वारा वन्दित इस साकेत पुरी को चिन्मय (अनादि) कहा है और इसके हिरण्या, चिन्मया, जया, अयोध्या, नन्दिनी, सत्या, राजिता और अपराजिता आठ नाम गिनाये हैं ।

वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड) में लिखा है—

कोसलो नाम विदितः स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥
अयोध्यानाम तत्रास्ति नगरी लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण पुरैव निर्मिता स्वयम् ॥
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी ।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा नानासंस्थानशोभिता ॥

अर्थात् सरयू नदी के दोनों तटों पर बसा हुआ कोसल नाम का विस्तृत महान् एवं प्रभूत धन-धान्य से पूर्ण जनपद (देश) था । उसकी अयोध्या नाम की लोक प्रसिद्ध महानगरी थी जिसका आदिराज मनु ने स्वयं निर्माण किया था और जो बारह योजन लम्बी तथा तीन योजन चौड़ी थी । स्कन्दपुराण के अनुसार यह नगरी मत्स्याकार (मछली के आकार की) थी ।

'रघुवंश' नामक महाकाव्य में महाकवि कालिदास ने भी अयोध्या का सुन्दर वर्णन किया है और सिंहल देशवासी कवि कुमार दास ने 'जानकी हरण' नामक काव्य में लिखा है कि 'अयोध्यापुरी क्षत्रियों के तेज की शमी, धन-धान्य से पूरित, एक दिव्य नगरी जान पड़ती थी जो मानों भोग के भार के कारण स्वर्ग से पृथ्वीतल पर उतर आई थी। वह अपनी समृद्धि से सबको सुख देकर अभिसारिकाओं को दुःख देती थी क्योंकि उसके स्वर्णमयी तोरण द्वारों में जड़े रत्नों के प्रकाश से अंधेरा छिन्न-भिन्न हो जाता था। अयोध्या के भवन ऐसे पदार्थ के बने थे कि उनकी दीवारें दर्पण के समान चमकती थीं जिनमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर हाथी टक्कर मारते थे, किन्तु जब मस्तक से मद न निकलता तो अपनी भूल समझ जाते थे, इत्यादि।

गोस्वामी तुलसीदास भी कह गये हैं—

रिधि सिधि सम्पति सकल सुहाई।
उमगि अवध अंबुधि कहँ आई॥

अन्य भी अनेक ग्रन्थों में अयोध्या के उल्लेख या वर्णन मिलते हैं, किन्तु इस पावन महानगरी के जैसे सुन्दर एवं भक्तिपूर्ण वर्णन जैन साहित्य में प्राप्त होते हैं, वैसे शायद अन्यत्र दुर्लभ हैं। तिलोय पण्णत्ति, पउमचरिय, कल्पसूत्रादि, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, स्वयंभू रामायण, आदि पुराण उत्तरपुराण, पुष्पदन्तकृत अपभ्रंश महापुराण, तिलक मंजरी, पंप रामायण, बृहत्कथाकोश, चामुण्डराय पुराण, हेमचन्द्रकृत त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित, विविधतीर्थ कल्प आदि अनेक जैन ग्रन्थों में अयोध्या के वर्णन या प्रभूत उल्लेख प्राप्त होते हैं।

आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति (अ० ४, गाथा ५२६, ५२७ ५२९, ५३० व ५३९) में 'जादो हु अवज्झाए उसहो', आदि गाथाओं द्वारा सूचित किया है कि अयोध्या नगरी में ऋषभदेव का जन्म,

माता मरुदेवी और पिता नाभिराय से चैत्र कृष्णा ९ को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में हुआ था। साकेत में अजितनाथ (साकेदे अजियजिणो) जिनेन्द्र का जन्म माता विजया और पिता जितशत्रु से माघ शुक्ला १० को रोहिणी नक्षत्र में हुआ था। अभिनन्दननाथ माता सिद्धार्था और पिता संवर के घर में साकेत में माघ शुक्ला १२ को पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे (साकेदे णंदणो जादो)। साकेत पुरी में माता मंगला और पिता मेघप्रभ से श्रावण शुक्ला ११ को मघा नक्षत्र में सुमतिनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ था (सुमई साकेदपुरम्मि)। अनन्तनाथ जिनेश्वर का जन्म साकेतपुर में सर्वयशा माता और सिंहसेन पिता से ज्येष्ठ कृष्णा १२ को रेवती नक्षत्र में हुआ था (अणंतो साकेदपुरे जादो)।

विमलार्य ने पउमचरिय (प्रथम शती ई०) में लिखा है कि 'इस नव योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी नगरी का निर्माण (कर्म-भूमि की आदि में) धनद अर्थात् कुबेर ने किया था, इसका उत्तुंग प्राकार श्रेष्ठ स्वर्णमयी था (पउमचरिय, ३।११३)। आचार्य जिनसेन (आदि पुराण) का कथन है कि "उस समय भोग प्रधान जीवन के आनन्द का उपयोग करते हुए वे दम्पति (भ० आदिनाथ के माता पिता) ऐसे जान पड़ते थे मानों भोग भूमि की नष्ट प्रायः लक्ष्मी को साक्षात् प्रदर्शित कर रहे हों। उनके निवास से अलंकृत पवित्र स्थान में जब कल्प वृक्षों का अभाव हो गया तब वहाँ उनके पुण्य द्वारा प्रेरित इन्द्र ने एक नगरी की रचना की। इन्द्र की आज्ञा से शीघ्र ही अनेक उत्साही देवों ने बड़े आनन्द के साथ स्वर्गपुरी के समान उस नगर की रचना की, उन देवों ने इस नगरी को इतना सुन्दर बनाया कि ऐसा जान पड़ता था मानो इस मध्यलोक में स्वयं स्वर्ग-लोक का प्रतिबिम्ब स्थापित करने के लिए ही उन्होंने उनका निर्माण किया है। 'हमारा स्वर्ग तो बहुत छोटा है क्योंकि वह केवल त्रिदशावास है, ऐसा कहकर उन्होंने इस सहस्रों मनुष्यों के रहने

योग्य विस्तृत स्वर्गपुरी की धरा पर रचना की थी। उस समय जो मनुष्य जहाँ-तहाँ बिखरे हुए रहते थे देवों ने उन सबको लाकर इस नगरी में बसाया और उसे विविध प्रकार (भवनादिकों से) सुसज्जित कर दिया। नगर के मध्य में उन्होंने राजप्रासाद बनाया जो अपनी सुन्दरता से स्वयं सुरेन्द्र भवन से स्पर्द्धा करता था और अनेक बहु-मूल्य विभूतियों से भरापूरा था। जब इस नगरी का सूत्रधार स्वयं देवराज इन्द्र था, शिल्पी स्वर्गों के देव थे और उसका निर्माण करने के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी की विविध सामग्री प्रस्तुत थी फिर वह ऐसी प्रशंसनीय क्यों न होती ? देवताओं ने उस नगरी को वप्र, प्राकार और परिखा आदि से सुशोभित किया, उन्होंने उसका नाम अयोध्याी रक्खा, किन्तु वह केवल नाम से ही अयोध्या न थी, गुणों से भ अयोध्या थी, कोई भी शत्रु उसके विरुद्ध युद्ध करने का साहस नहीं कर सकता था। उसका अपर नाम साकेत था क्योंकि वह अनेक भव्य भवनों से सुशोभित थी, जिनकी ऊँची फहराती हुई ध्वजाएँ स्वर्गलोक के भवनों को आमंत्रित करती प्रतीत होती थीं। सुकोशल देश में स्थित होने के कारण वह नगरी सुकोशला कहलाई और विनीत एवं सभ्यजनों का निवास होने के कारण उसका विनीता नाम पड़ा। यह सुप्रसिद्ध सुकोशला राजधानी आगे होने वाले विशाल देश के मध्य में नाभिरूप लक्ष्मी की भाँति शोभायमान हुई। राजप्रासाद, वप्र, कोट, खाई आदि से युक्त यह नगर ऐसे मालूम पड़ता था मानों आगे निर्माण किये जाने वाले नगरों के लिए एक आदर्श (माडल) स्थापित कर दिया गया हो। इस नगरी में शुभ दिन, शुभ मुहूर्त्त, शुभ योग और शुभ लग्न में देवों ने मिलकर सहर्ष पुण्याहवाचन किया। और उसी समय परम सम्पन्न महाराज नाभिराय और महारानी मरुदेवी ने इस अतिशय ऋद्धियुक्त अयोध्या नगरी में निवास करना प्रारम्भ किया। 'इन दिनों के विश्वद्रष्टा ऋषभदेव पुत्र रूप में जन्म लेंगे' यह जानकर इन्द्र ने अभिषेक पूर्वक उनकी बड़ी पूजा की'' (आदिपुराण, पर्व १२, श्लो० ६८-८३

तथा पर्व १४, श्लो० ५४–७१.) इत्यादि। पद्मपुराण (पर्व ८२८-८३) में आचार्य रविषेण ने राम-लक्ष्मण की इस अयोध्यापुरी का अत्यन्त मनोहारी विस्तृत वर्णन किया है।

तिलकमंजरी काव्य में जैन कवि धनपाल ने अयोध्या की प्रशंसा में महाकवि कालिदास को भी मात कर दिया। कई पृष्ठ उन्होंने इस नगरी की प्रशंसा में रंग डाले। वह कहते हैं कि "अयोध्या की रमणीयता से सारा सुरलोक निरस्त हो गया। यह महानगरी भारतवर्ष के मध्यभाग का अलंकार थी। उसके चारों ओर ऊँचा कोट था, इसके आगे जल पूरित खाई थी जिसे कल्पना द्वारा भी लाँघना अशक्य था, और जिसमें उत्तुंग कोट की प्रतिच्छाया ऐसी लगती थी मानों मैनाक की खोज में स्वयं हिमालय समुद्र में घुसा हो', इत्यादि। धनपाल का कथन है कि 'उत्तरकोशल की यह अयोध्या नगरी समस्त आश्चर्यों का निधान थी और यथानाम तथा गुण थी।

हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि 'विनीत साधुपुरुषों की निवासभूमि इस विनीतापुरी को जिसका अपरनाम अयोध्या था देवराज इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने १२ योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी बनाई थी तथा उसे अक्षय्य धनधान्य एवं वस्त्रालंकारों से पूरित कर दिया था। उस नगरी के घरों के आँगनों में मोती चुन-चुनकर स्वस्तिका रूप चौक पूरे जाते थे। जलकेलि में इस नगर की वनिताओं के हार आदि टूटने से वहाँ की बावड़ियाँ ताम्रपर्णी (सिंहल-द्वीप) जैसी लगती थीं। यहाँ की चन्द्रकांत मणि से निर्मित भित्तियों से रात्रि के समय इतना जल गिरता था कि मार्गों की धूलि दब जाती थी। विनीता नाम की यह पुरी जम्बूद्वीप के भरतखंड में सम्पूर्ण वसुन्धरा की मुकुटमणि थी, इत्यादि। हरिभद्रसूरिकृत 'समराइच्चकहा' में अयोध्या एवं साकेत, दोनों नामों से इस महा नगरी का उल्लेख हुआ है।

'विविध तीर्थकल्प' के अन्तर्गत अयोध्यापुरी कल्प में, १४ वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में अयोध्या की यात्रा करने वाले जिनप्रभ-सूरि ने भी अयोध्या नगरी के प्राचीन महत्त्व एवं उसके तत्कालीन धर्मायतनों आदि का वर्णन किया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि अयोध्या नगरी सरयू और घाघरा नदियों के संगम पर स्थित है और इसी कारण इस संगम स्थान को स्वर्गद्वार कहते हैं।

इन सब उल्लेखों से प्रथम तीर्थंकर युगादि पुरुष भगवान् आदिनाथ ऋषभदेव तथा अन्य कई तीर्थंकरों एवं शलाकापुरुषों की जन्मभूमि अयोध्या का जो सांस्कृतिक महत्त्व जैन परम्परा में है वह स्पष्ट है, साथ ही यह भी सूचित होता है कि अयोध्या के साथ जैनधर्म का सम्बन्ध अन्य सर्व धर्मो या सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक मौलिक, प्राचीन एवं दीर्घकालीन है।

■

परिच्छेद—८

तीर्थंकरों की जन्मभूमि

साकेत-विनीतायोध्या, कोसलपुरी अभिराम।
आदितीर्थ जिन-जन्मभू, अघहारी पुण्य धाम॥

जैन मान्यता के अनुसार यह विश्व अनादि-निधन है। कालचक्र सतत गतिमान रहता है, और उसी के कारण पृथ्वीतल एवं उसके निवासियों के जीवन, आयु, आकार-प्रकार, शक्ति, सुख-दुःख आदि में परिवर्तन होता रहता है। कालचक्र की मुख्य इकाई कल्पकाल कहलाती है जिसके अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी नाम के दो विभाग होते हैं। इनमें से प्रत्येक कालखण्ड छः आरों या उपविभागों में विभक्त होता है। अवसर्पिणी के ये विभाग सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा और दुखमा-दुखमा होते हैं, जिनमें जीवन की क्षमताओं एवं नैसर्गिक सुख-सुविधाओं में उत्तरोत्तर ह्रास होता जाता है, और अन्त में प्रलय होती है। तदनंतर उत्सर्पिणी प्रारम्भ होती है और उसमें उलटा क्रम चलता है—वह उत्तरोत्तर वृद्धि का युग होता है। प्रत्येक दुखमा-सुखमा युग में, जो अवसर्पिणी में चौथा और उत्सर्पिणी में तीसरा काल होता है, कर्म और धर्म की प्रवृत्ति रहती है और एक-एक करके चौबीस तीर्थंकर जन्म लेते हैं तथा अपने आदर्श आचरण और उपदेशों द्वारा संसार के सब ही प्राणियों के हित-सुख के लिए सद्धर्म का उद्योत एवं प्रचार-प्रसार करते हैं। इस प्रकार अतीत में भी अनगिनत तीर्थंकर चौबीसियाँ हो गई हैं और भविष्य में भी सदैव होती रहेंगी। इन समस्त तीर्थंकरों का जन्म जहाँ वर्तमान अयोध्या स्थित है उसी स्थान में होता है, और होता रहेगा। जब भी सभ्ययुग का

आविर्भाव होता है और नगर एवं बस्तियों आदि का निर्माण प्रारम्भ होता है तो सर्वप्रथम अयोध्या नगर का ही निर्माण होता है। इसीलिए तीर्थंकरों की जन्मभूमि अयोध्या प्रत्येक कर्मयुग की दृष्टि से आद्यनगरी या प्रथमपुरो होती है, वैसे वह सनातन तीर्थ-भूमि है।

वर्तमान काल की चालू अवसर्पिणी में कालदोष से सनातन नियमों के विपरीत कतिपय अपवाद हुए हैं, जिनके कारण उसे हुंडावसर्पिणी कहते हैं। इन्हीं अपवादों में से एक यह भी है कि इसके चौबीस तीर्थंकरों में से केवल पाँच का जन्म ही अयोध्या में हुआ और शेष का अन्यत्र। दूसरे यह कि प्रथम तीर्थंकर का जन्म और कृतयुग का प्रारम्भ चौथे के बजाय तीसरे युग के अन्त में ही हो गया। मध्य लोक के मध्य में स्थित जम्बूद्वीप का जो भूभाग उत्तर में हिमवन पर्वत और दक्षिण में तीन ओर लवण समुद्र से वेष्टित है तथा गंगा, सिंधु आदि महानदियों से सिंचित है, वह भरत क्षेत्र कहलाता है। उसका मध्यभाग आर्यखंड या मध्य-देश कहलाता है और उसके हृत्स्थल में वह पावन भूमि है जो अयोध्या की स्थिति की सूचक है। और जिसकी पहचान एक अकृत्रिम अनादि-निधन स्वस्तिक चिह्न से प्रत्येक कर्म युग के आरंभ में होती है।

प्रथम तीन कालों (सुखम-सुखमा, सुखमा और सुखमा-दुखमा) में भोगयुग रहा। जीवन अत्यन्त सरल, स्वच्छ, निर्दोष, संघर्ष-विहीन, स्वतन्त्र, प्राकृतिक एवं प्रकृत्याश्रित था। मनुष्यों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति दश प्रकार के कल्पवृक्षों से स्वतः हो जाया करती थी। मानवकृत कोई व्यवस्था नहीं थी, किन्तु स्थिति में उत्तरोत्तर ह्रास होता रहा। तीसरे काल के अन्तिम पाद में भोगभूमि का अवसान प्रत्यक्ष लक्षित होने लगा और काल-चक्र के प्रभाव से होने वाले अवस्था परिवर्तनों को देखकर लोग

शंकित एवं भयभीत होने लगे। तब उनका समाधान, मार्ग दर्शन एवं नेतृत्व करने के लिए इस क्षेत्र में प्रतिश्रुति से लेकर नाभिराय पर्यन्त एक-एक करके चौदह कुलकर या मनु उत्पन्न हुए। उन्हीं की सन्तति होने के कारण इस देश के निवासी मानव कहलाए। इन कुलकरों या मनुओं में से भी अन्तिम सात, अर्थात् चक्षुष्मान्, यशस्वन्, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराय उसी स्थान में हुए जहाँ कालान्तर में अयोध्या बसी।

अंतिम कुलकर नाभिराय के समय तक समस्त कल्पवृक्ष शनैः शनैः नष्ट हो गये केवल 'सर्वतोभद्र' नामका एक विशाल कल्पवृक्ष बचा था जिसमें वह स्वयं अपनी चिरसंगिनी मरुदेवी के साथ सुख से निवास करते थे। इन महाराज नाभिराय के नाम पर ही इस देश का प्राचीन नाम 'अजनाभ' प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने अपने समय में कुलों की व्यवस्था एवं लोगों का सफल मार्गदर्शन किया। देव-राज इन्द्र ने छः मास पूर्व ही यह जानकर कि माता मरुदेवी की कुक्षि में आदि तीर्थंकर का गर्भावतरण होने वाला है, उक्त सर्वतो-भद्र प्रासाद को मध्य में लेकर, उनके निवास के लिए एक अप्रतिम सुन्दर एवं विशाल नगरी का निर्माण किया। इस कार्य में धनद कुबेर इन्द्र का सहायक था। पौषकृष्ण द्वितीया के दिन उस नगरी का देवों द्वारा निर्माण हुआ, और यह इस महादेश की सभ्य युग की आद्य नगरी, या प्रथम पुरी हुई। इसका प्रसिद्ध नाम अयोध्या हुआ, क्योंकि इसकी बुनियाद ही शांति एवं सहअस्तित्व पर आधा-रित थी—न इसके निवासी किसी पर आक्रमण करते थे और न किसी भी शत्रु में इसके विरुद्ध युद्ध करने का साहस था। कालान्तर में इक्ष्वाकुपुरी या इक्ष्वाकुभूमि, ऋषभपुरी, साकेत, विनीता, कोशल, सुकोशला, कोशलपुरी, रामपुरी, अउज्झा, अजुध्या, अवध या अवधपुरी आदि अनेक अपरनाम उसे प्राप्त हुए। इन्द्र ने ही नगरी के मध्य में तथा उसके चारों कोनों में एक-एक भव्य जिनमंन्दिर

स्थापित किया। वप्र, प्राकार, परिखा से सुशोभित करके कोट की चारों दिशाओं में एक-एक उत्तुङ्ग एवं मनोरम गोपुर बनाया। यत्र-तत्र बिखरे हुए लोगों को ला-ला कर देवों ने इस आद्य नगरी में वसाया। बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी, समस्त आश्चर्यों की निधान इस अयोध्या महानगरी की सुन्दरता का बखान कौन कर सकता है, जिसका सूत्रधार स्वयं देवराज इन्द्र था, व्यवस्थापक कुबेर था, शिल्पी स्वर्ग के देव थे और जिसकी निर्माण सामग्री के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी पड़ी थी, ऐसा आदिपुराणकार कहते हैं। इतना ही नहीं, कुबेर ने उक्त छः मास पर्यन्त इस नगरी में नित्य स्वर्ण एवं रत्नों की वर्षा भी की। नगर की सारी जनता को ही समृद्ध एवं सम्पन्न बना दिया था।

आषाढ़ कृष्ण द्वितीया के शुभ दिन आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का इस महानगरी में गर्भावतरण हुआ और नौ मास पश्चात् चैत्र कृष्ण नवमी के शुभ दिन माता मरुदेवी की कुक्षि से यहीं सर्वतोभद्र प्रासाद में प्रभु का जन्म हुआ। माता-पिता एवं पुरजनों ने ही नहीं, स्वर्ग से आकर इन्द्रादि देवों ने भी भगवान् का जन्मोत्सव दिव्य उल्लास एवं समारोह के साथ मनाया। भगवान् धर्म के साक्षात् रूप थे अतः इनका नाम ऋषभ, ऋषभदेव या ऋषभनाथ प्रसिद्ध हुआ। वृषभ उनका लांछन था, अतः वृषभनाथ एवं वृषभध्वज भी कहलाए। इनके गर्भावतरण के उपलक्ष्य में देवताओं ने छः मास पर्यन्त स्वर्णवृष्टि की थी, अतः हिरण्यगर्भ कहलाए।

मानवी सभ्यता के जनक होने से आदि पुरुष, प्रथम तीर्थंकर होने से आदिदेव, आदीश्वर, आदिब्रह्म एवं महादेव कहलाए। प्रजा का विधिवत् पालन करने के कारण प्रजापति और इक्षुरस का आविष्कार करने के कारण इक्ष्वाकु एवं काश्यप नामों से प्रसिद्ध हुए, जो उनकी सन्तति के क्रमशः वंश एवं गोत्र नाम हुए। स्वयंभू, पुरुदेव, नाभेय या नाभिनन्दन, शिव, केशी, महाव्रात्य, महामुनि,

योगीश्वर, अर्हत्, आदि अन्य अनेक नाम या उपाधियाँ उन्हें प्राप्त हुईं।

भगवान् के वयस्क होते ही पिता महाराज नाभिराय ने कुलों एवं प्रजा का समस्त भार इन्हें सौंप दिया और इस प्रकार वह पन्द्रहवें कुलकर एवं मनु भी कहे जाते हैं। आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदा के दिन यह उत्तरदायित्व लेकर महाराज ऋषभ ने कृतयुग या कर्मयुग का ॐ नमः किया अर्थात् मानवी सभ्यता का युगारम्भ किया। अनुश्रुति है कि इन्हीं आदिपुरुष ने सर्वप्रथम लोगों को खेती करना, आग जलाना, आग में अन्न को भूनना-पकाना, ईख का रस निकालकर उसका भोज्य पदार्थ के रूप में उपयोग करना, मिट्टी के बर्तन बनाना, कपड़ा बुनना, मकान बनाना, ग्राम-नगर बसाना आदि सिखाया था। उन्होंने लोगों को असि-मसि-कृषि-वाणिज्य विद्या नामक षट्कर्मों द्वारा जीविकोपार्जन करने का तथा पुरुषों की बहत्तर और स्त्रियों की चौसठ कलाओं का प्रारम्भिक ज्ञान जनता को दिया था। कर्मानुसार क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र नामक तीन वर्णों की भी स्थापना की। उन्होंने नन्दा (यशस्वती) एवं सुनन्दा के साथ विवाह करके मानव समाज में सर्व प्रथम विवाह प्रथा का सूत्रपात किया। उन दोनों पत्नियों से उनके एक सौ यशस्वी पुत्र और ब्राह्मी एवं सुन्दरी नाम की दो सुकन्याएँ हुईं। उन्होंने पुत्रों के समान ही पुत्रियों को भी सुशिक्षित किया—ब्राह्मी को अक्षरज्ञान देने के निमित्त से ही भारत की प्राचीन ब्राह्मी लिपि का आविष्कार हुआ। दूसरी पुत्री सुन्दरी को उन्होंने अंक ज्ञान दिया। इस प्रकार अयोध्यापति ऋषभदेव ने प्रजा का सम्यक्रीत्या पालन, पथ प्रदर्शन एवं नेतृत्व चिरकाल तक किया। ज्ञान-विज्ञान, कलाकौशल, सामाजिक संगठन, अर्थ-व्यवस्था, राज्य प्रशासन आदि के रूप में मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति के बीजारोपण का श्रेय इन्हीं आदि पुरुष को है और

इसी अयोध्या नगरी में उन्होंने उक्त कृत या कर्मयुग का सर्वप्रथम एवं सफल प्रयोग किया था।

एकदा अयोध्या में उनकी राज्यसभा में इन्द्र द्वारा प्रेषित नीलांजना नामक अप्सरा की आयु मनोरम नृत्य करते-करते ही पूरी हो गई। देवमाया से तत्काल बिल्कुल वैसे ही एक अन्य अप्सरा ने नीलांजना का स्थान ले लिया। अन्य दर्शकों ने तो यह परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया किन्तु महाराज ऋषभ की तीक्ष्ण दृष्टि से वह छुपा नहीं रहा और उन्हें जीवन की क्षणभंगुरता की अनुभूति करा गया तथा अपने परम कर्तव्य का स्मरण दिला गया। उन्होंने तत्क्षण समस्त परिजनों एवं प्रजाजनों को एकत्र करके जैनेश्वरी दीक्षा लेने के अपने संकल्प की घोषणा कर दी। अपना उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र भरत को बनाया, अन्य पुत्रों को भी देश के विभिन्न भागों का राज्य दिया। समस्त राज्य वैभव एवं परिग्रह का परित्याग किया और 'सुदर्शन' नामक पालकी पर आरूढ़ हो राजर्षि ऋषभ ने वन का मार्ग लिया। अयोध्या से बाहर निकटवर्ती 'सिद्धार्थक' नामक वन में पहुँच कर राजर्षि ने वस्त्राभरण का भी परित्याग कर दिया और चन्द्रकान्तमणि-शिला पर बैठकर सर्वथा निस्संग, निष्परिग्रह एवं निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो पंचमुष्टि लौंच किया तथा एक साथ ही छः मास का उपवास धारणकर समाधि लगा ली। भगवान् का महाभिनिष्क्रमण एवं जिनदीक्षा उनके जन्म दिवस चैत्रकृष्ण नवमी के अपराह्न में हुई थी। देवादिकों ने तथा महाराज भरत आदि ने भक्तिपूर्वक भगवान् का तप कल्याणक मनाया।

अयोध्या के सिद्धार्थक वन में एक स्थान पर छः मास पर्यन्त कायोत्सर्ग योग से स्थिर रहकर योगीश्वर ऋषभ पारणा के लिए विचरे। किन्तु उस समय तक किसी ने मुनि और मुनिचर्या देखी और जानी ही नहीं थी, अतः कोई यह न जान सका कि भगवान्

को आहार दिया जाना चाहिए। छः मास और बीत गये। अन्ततः हस्तिनापुर में महाराज सोमप्रभ के अनुज राजकुमार श्रेयांस ने भगवान् को इक्षुरस का आहार देकर उनके एक वर्षव्यापी उपवास की पारणा वैशाख शुक्ल तृतीया के शुभ दिन कराया। तभी से वह दिन लोक में 'अक्षय-तृतीया' पर्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भगवान् पुनः दुर्द्धर तपश्चरण में लीन हो गये और यत्र-तत्र विचरते रहे। इस अनुपम साधना के फलस्वरूप एकदा जब वह प्रयाग में त्रिवेणी संगम के निकट वट-वृक्ष की छाया में ध्यानस्थ विराजमान थे, उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया, वह अर्हंत परमात्मा हो गये। वह वृक्ष भी तभी से 'अक्षयवट' कहलाने लगा। यह तिथि फाल्गुन कृष्ण एकादशी थी।

तदनन्तर भगवान् ने सद्धर्म का प्रचार करने के लिए देश-देश में विहार किया। उनकी समवसरण सभाओं में बिना किसी भेद-भाव के समस्त प्राणी आत्मकल्याण करते थे। आदि देव भगवान् ऋषभ कर्मयुग एवं मानवी सभ्यता के आविर्भावक थे, उसी प्रकार इस कल्पकाल में धर्मचक्र के प्रथम प्रवर्तक, प्रथम तीर्थंकर और जिनेश्वर थे। अयोध्या में भी उनका समवसरण आया। चिरकाल पर्यन्त लोक कल्याण करके उन भगवान् आदिनाथ महादेव ने कैलास पर्वत के शिखर पर माघ कृष्ण चतुर्दशी (उत्तर भारत की गणना में फाल्गुन कृष्ण १४) के प्रातः सूर्योदय के समय पर्यंकासन से निर्वाण प्राप्त किया। वह तिथि लोक में 'शिव चौदश' तथा उसके पूर्व की रात्रि 'शिवरात्रि' के नाम से विख्यात हुए।

भगवान् के ८४ गणधरों में प्रमुख वृषभसेन उनके मुनि संघ के मुखिया थे। राजकुमारी ब्राह्मी और सुन्दरी ने भी आर्यिका दीक्षा ले ली थी और महासती ब्राह्मी उनके आर्यिका संघ की प्रमुखा थीं। भगवान् के पुत्रों में से भी अनेकों ने मुनिदीक्षा ले ली थी और मोक्ष लाभ किया। इन समस्त महान् विभूतियों का जन्म भी अयोध्या में ही हुआ था।

भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र महाराज भरत श्रावकोत्तम थे, भगवान् के प्रधान श्रोता थे। उन्होंने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी। भरत ही सभ्य संसार के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्होंने छः खण्ड पृथ्वी का दिग्विजय करके वसुन्धरा का उपभोग किया था। उन्हीं भरत महाराज के नाम पर इस महादेश का नाम 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध हुआ। यह तथ्य महापुराण आदि प्राचीन जैन ग्रन्थों से ही नहीं, भागवत, विष्णु आदि अधिकांश ब्राह्मणीय पुराणों से भी भलीभाँति सिद्ध है। भरत चक्रवर्ती के सार्वभौम साम्राज्य की राजधानी एवं केन्द्र अयोध्या ही थी। भरतेश ने अयोध्या को और अधिक समलङ्कृत किया। भगवान् के निर्वाणो-पलक्ष में यहाँ एक अति भव्य एवं उत्तुंग सिंहनिषद्या निर्माण कराई। नगर के चारों द्वारों पर इस कल्प के चौबीसों तीर्थंकरों की उनकी अवगाहना के अनुरूप प्रतिमाएँ स्थापित कीं (ऋषभ व अजित की पूर्व द्वार पर, संभवादि चार की दक्षिण द्वार पर, सुपार्श्व आदि आठ की पश्चिमी द्वार पर और धर्मनाथादि दश की उत्तर द्वारपर), अनेक जिनमन्दिर, जिनप्रतिमांकित स्वर्ण घन्टे, बन्दनवार, एक सौ स्तूप आदि बनवाए। कैलास पर्वत पर भी भगवान् के निर्वाण की स्मृति में विशाल जिन मन्दिर बनवाया। चिरकाल राज्य का उपभोग एवं प्रजा का सुपालन करके राजर्षि भरत ने जिन दीक्षा ली और तत्काल केवलज्ञान प्राप्त कर लिया तथा कालान्तर में निर्वाण प्राप्त किया। उनके ज्येष्ठ पुत्र अर्क-कीर्ति अयोध्यापति हुए और उनसे ही सूर्यवंश चला। भरत के ही एक अन्य पुत्र मरीचि थे जो पितामह के साथ ही संसार त्यागी हो गये थे किन्तु पथभ्रष्ट हो गये, तथापि अन्त में वही अन्तिम तीर्थंकर महावीर के रूप में जन्म लेकर मोक्षगामी हुए।

सम्राट् भरत के अनुज बाहुबलि अत्यन्त वीर एवं बलशाली थे। चक्रवर्ती की दिग्विजय के प्रसंग से दोनों भाइयों का भीषण

द्वन्द्व युद्ध हुआ। परिणाम स्वरूप बाहुबलि ने संसार से विरक्त होकर दुर्द्धर तपश्चरण किया। गोम्मटेश्वर बाहुबलि की अति विशालकाय प्रतिमाएँ दक्षिण भारत में अनेक विद्यमान हैं, कई एक उत्तर भारत में भी हैं। हस्तिनापुर नरेश सोमयश भी भगवान् ऋषभ के ही पौत्र थे, जिनसे क्षत्रियों का चन्द्रवंश चला।

अजितनाथ—भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के बहुत काल उपरान्त इसी साकेतनगर (अयोध्या) के अधिपति, इक्ष्वाकुवंशी, काश्यपगोत्री महाराज जितशत्रु की महारानी विजयसेना की कुक्षि से दूसरे तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ ने जन्म लिया। उनका गर्भावतरण ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या के दिन हुआ था। इस उपलक्ष्य में उसके पूर्व ही इन्द्र ने अयोध्या नगरी का पुनः संस्कार किया, रत्नवृष्टि की और माघशुक्ल दशमी के दिन जब उनका जन्म हुआ तो सोल्लास जन्मोत्सव मनाया। वयस्क होने पर उन्होंने पिता का उत्तराधिकार प्राप्त किया और चिरकाल तक राज्य किया। एकदा आकाश में उल्कापात देखकर इन्हें जीवन की क्षणभंगुरताकी अनुभूति हुई और सर्वस्व का परित्याग करके, सुप्रभा नामक पालकी पर आरूढ़ होकर साकेत के बाहिर 'सहेतुक' वन में माघशुक्ल नवमी के दिन जिनदीक्षा ली। अगले दिन अयोध्या में ही ब्रह्मा महीपाल ने उन्हें प्रथम आहारदान दिया। अल्पकालीन तपश्चरण के उपरान्त पौष शुक्ल एकादशी के दिन अयोध्या के उसी वन में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तीर्थंकर रूप में चिरकाल लोक कल्याण करके भगवान् अजितनाथ ने चैत्र-शुक्ल पंचमी के दिन सम्मेद शिखर से मोक्षलाभ किया। उनके प्रधान गणधर सिंहसेन थे और भगवान का लांछन हस्ति था। भगवान् अजितनाथ के निर्वाण के कुछ कालोपरान्त कोशलदेश की इसी अयोध्या नगरी में भरतक्षेत्र का दूसरा चक्रवर्ती सम्राट् सगर हुआ। उसके पिता इक्ष्वाकुवंशी अयोध्यापति समुद्रविजय

थे और माता महारानी सुबला थी। सगर भी बड़ा प्रतापी एवं धर्मात्मा सम्राट् था, उसने भी दिग्विजय की और चिरकाल राज्य लक्ष्मी का उपभोग किया। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार तेजस्वी पुत्र थे। अन्त में ज्येष्ठ पुत्र भगीरथ को राज्य सौंपकर सगर ने मुनि दीक्षा ली, तप किया, केवलज्ञान प्राप्त किया और निर्वाण लाभ किया। उसके साठ हजार पुत्रों ने भी दीक्षा लेकर तप किया और मोक्ष प्राप्त किया। महाराज भगीरथ ने भी कालान्तर में तप करके मोक्ष लाभ किया। इन भगीरथ ने ही गंगा नदी को तीर्थत्व प्रदान किया था। सगर चक्रवर्ती और उसके साठ हजार पुत्रों व भगीरथ की कथा ब्राह्मणीय पुराणों में भी पाई जाती है।

तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ भी इक्ष्वाकुवंशी एवं काश्यपगोत्री थे, किन्तु उनका जन्म कोशलदेश की ही दूसरी नगरी श्रावस्ती में हुआ था।

अभिनन्दन नाथ—चौथे तीर्थंकर अभिनन्दन नाथ का जन्म भी इसी अयोध्या नगरी में उसके स्वामी, इक्ष्वाकुवंशी, काश्यप-गोत्री महाराज स्वयंवर की पट्टरानी सिद्धार्था की कुक्षि से हुआ। उनका गर्भाधारण वैशाख शुक्ल षष्ठी और जन्म माघ शुक्ल द्वादशी के दिन हुआ था। जब यह वयस्क हो गये तो राज्य का भार इन्हें सौंपकर इनके पिता मुनि दीक्षा लेकर वन को चले गये। चिर-काल तक राज्यभोग करने के उपरान्त एक दिन आकाश में बनते-बिगड़ते बादलों को देखकर अभिनन्दन नाथ विरक्त हो गये और माघ शुक्ल द्वादशी के सायंकाल अयोध्या के अग्रवन में जिनदीक्षा ली। तथा अगले दिन अयोध्या में ही राजा इन्द्रदत्त से आहार ग्रहण किया। कुछ समय पश्चात् पौषशुक्ल चतुर्दशी के दिन उसी वन में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और उनका समवसरण रचा गया। चिरकाल पर्यन्त यत्र-तत्र-सर्वत्र धर्मवृष्टि करने के उपरान्त वैशाख शुक्ल षष्ठी के दिन सम्मेद शिखर से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। भगवान् अभिनन्दन का लांछन वानर था।

सुमतिनाथ—इसी अयोध्यानगरी (साकेत) में भगवान् ऋषभदेव के ही वंश एवं गोत्र में उत्पन्न महाराज मेघरथ राज्य करते थे। उनकी महादेवी का नाम मङ्गला था। ये महाभाग दम्पति ही पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ के जनक-जननी थे। भगवान् का गर्भावतरण श्रावण शुक्ल द्वितीया को और जन्म चैत्र शुक्ल एकादशी को हुआ था। इनका लांछन चक्रवाक था। कुमारकाल व्यतीत होने पर उन्हें पिता का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ और चिरकाल तक उन्होंने राज्य का उपभोग किया। तदनन्तर उन्हें संसार-देह-भोगों से वैराग्य हुआ और वैशाख शुक्ल नवमी के दिन अयोध्या के ही सहेतुक वन में उन्होंने जिन दीक्षा ली, अल्पकाल तप किया और उसी वन में उन्हें चैत्रशुक्ल एकादशी के दिन केवलज्ञान हुआ। उनका समवसरण रचा गया और धर्मचक्र प्रवर्तित हुआ। सुदीर्घकाल तक लोक-कल्याण करने के उपरान्त चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन भगवान् ने सम्मेदशिखर से निर्वाण लाभ किया।

छठे से तेरहवें पर्यन्त तीर्थंकरों का जन्म अन्य नगरों में हुआ किन्तु वे सब भी इक्ष्वाकुवंशी एवं काश्यपगोत्री थे और उन सबके समवसरण अयोध्या में आये थे।

अनन्तनाथ—चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ का जन्म भी इसी साकेतनगर (अयोध्या) में इक्ष्वाकुवंशी, काश्यपगोत्री महाराज सिंहसेन की महारानी जयश्यामा की कुक्षि से हुआ था। भगवान् की गर्भावतरण तिथि कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा और जन्म तिथि ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी है। इन भगवान् अनन्तजित् ने भी चिरकाल पर्यन्त अयोध्या के राज्य का उपभोग किया। एकदा उल्कापात देखकर संसार से विरक्त हुए और ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के सांयकाल 'सागरदत्ता' नामकी पालकी पर चढ़कर नगर के निकटवर्ती 'सहेतुक' वन में पधारे, समस्त संग का त्याग किया, पंचमुष्टि लौंच किया और जिनदीक्षा ली तथा अगले दिन साकेतपुर के ही राजा

विशाख से आहार ग्रहण किया। छद्मस्थ अवस्था के दो वर्ष बीतते ही उसी सहेतुक वन में एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन भगवान् ने कैवल्य लाभ किया, उनकी समवसरण सभा जुड़ी और धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ। अनेक देशों में सद्धर्म प्रचारार्थ विहार करने के उपरान्त चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन ही सम्मेदशिखर से उन्होंने परमपद प्राप्त किया।

धर्मनाथ आदि महावीर पर्यन्त अवशिष्ट तीर्थंकरों का जन्म अन्य-अन्य नगरों में हुआ, किन्तु उन सबके समवसरण अयोध्या में में आये। पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ भी काश्यपगोत्री किन्तु कुरुवंशी थे जो इक्ष्वाकुवंश की ही एक शाखा थी। उनका जन्म भी अयोध्या से नातिदूर रत्नपुरी में महाराज भानु की महारानी सुप्रभा की कुक्षि से हुआ था—उनके गर्भ जन्म तप और ज्ञानकल्याणक रत्नपुर एवं उनके बाहर शालवन में हुए थे। इन्हीं भगवान् धर्मनाथ के तीर्थ में जैन अनुश्रुतियों का तीसरा चक्रवर्ती सम्राट् मघवा अयोध्या में ही इक्ष्वाकुवंशी महाराज सुमित्र की रानी भद्रा की कुक्षि से उत्पन्न हुआ था। चिरकाल तक साम्राज्य लक्ष्मी का उपभोग करके मघवा चक्रवर्ती ने मुनिदीक्षा ली, तप किया, केवलज्ञान और तदनन्तर मोक्ष प्राप्त किया। कुछ कालौपरान्त अयोध्या के ही सूर्यवंशी राजा अनन्तवीर्य की सहदेवी रानी से चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार का जन्म हुआ। उसने भी अन्त में तप किया और उसी भव से मोक्ष प्राप्त किया। तीर्थङ्कर अरनाथ के तीर्थ में कोसलदेश की इसी अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी राजा सहस्रबाहु और रानी चित्रमती का पुत्र आठवाँ चक्रवर्ती सुभौम हुआ। इसी काल में कार्त्तवीर्य अर्जुन, जमदग्नि, रेणुका, परशुराम आदि से सम्बन्धित पौराणिक घटनाएँ घटीं, और इन व्यक्तियों का भी प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध अयोध्या से रहा।

बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थ में अयोध्या में भगवान्

ऋषभदेव एवं चक्रवर्ती भरत के इक्ष्वाकुवंश की सूर्यवंश शाखा में उत्पन्न रघुवंशी दाशरथी मर्यादा पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र हुए। वह अपने युग के प्रधान शलाका पुरुष थे। उनके अनुज लक्ष्मण नारायण थे तथा लंकापति राक्षसराज विद्याधर रावण प्रतिनारायण था। वाल्मीकीय रामायण एवं जैन रामायणों (पउमचरिय, पद्मपुराण, स्वयंभू रामायण, उत्तर पुराण-पर्व ६७-६८, पद्म रामायण, आदि) वर्णित घटनाएँ इसी काल की हैं। राम प्रिया महासती सीता की गणना जैन परम्परा की सर्वोपरि सोलह सतियों में की जाती है। रावण-वध एवं सीतोद्धार के उपरान्त राजा राम ने आदर्श सुराज्य किया और अन्त में मुनि-दीक्षा लेकर तप किया, केवलज्ञान एवं अर्हंत पद प्राप्त किया और उसी भव से मोक्ष प्राप्त करके वह सिद्ध परमात्मा हुए। मुनि अवस्था में राम 'पद्म मुनि' के नाम से प्रसिद्ध हुए, इसी से बहुधा उनके चरित्र ग्रन्थों का नाम पद्म पुराण हुआ। अयोध्यापति भगवान् राम का लौकिक एवं पारलौकिक चरित्र भारतीय संस्कृति की अपूर्व थाती एवं जन-जन के लिए अद्‌भुत प्रेरणा का स्रोत रहा है।

राम के अनुज, केकयी पुत्र महात्मा भरत भी बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने भी दीक्षा लेकर तप किया, केवलज्ञान प्राप्त किया और उसी भव से मोक्ष प्राप्त किया। उनके प्रिय गजराज त्रिलोक-मण्डन का भरत वैराग्य के समय का प्रसंग बड़ा मार्मिक है। भरत जननी केकयी ने भी आर्यिका दीक्षा लेकर तप किया।

राजा राम के अद्वितीय सखा एवं सहायक पवनसुत अञ्जनी-लाल बजरंगबली हनुमान भी कामदेवोपम रूपवान एवं चरम-शरीरी थे। उन्होंने भी राम के साथ ही दीक्षा ले ली और तपस्या के फलस्वरूप कैवल्य एवं अन्ततः मोक्ष प्राप्त किया। उनका नाम कतिपय जैनग्रन्थों में अणुमान दिया है और मुनि अवस्था में वह श्री शैल महामुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

यज्ञों में पशुबलि के प्रश्न को लेकर पर्वत और नारद के बीच राजा वसु की सभा में हुआ विवाद भी एक अनुश्रुति के अनुसार अयोध्या प्रदेश में ही हुआ कहा जाता है। राजनर्तकी बुद्धिषेणा और प्रीतंकर एवं विचित्रमती नामक मुनियों की कथा, धर्मोदय नामक राजा के जिनशासन अनुरक्त एवं दृढ़ श्रद्धानी सुश्रावक नगर सेठ वसुमित्र का वृत्तान्त, अयोध्या नरेश सुरत की मुनि-निन्दक रानी महादेवी की कथा, अयोध्यापति सीमंधर के मांस-लोलुपी कुपुत्र मृगध्वज का आख्यान आदि अनेक जैन पौराणिक कथाओं का घटनास्थल अयोध्या नगरी रही।

स्वयं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के आध्यात्मिक विकास का इतिहास तब से प्रारंभ होता है जब वह प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के पौत्र और चक्रवर्ती भरत के पुत्र मरीचि के रूप में अयोध्या में ही जन्मे थे। अनेक भवों के उपरान्त उन्होंने तीर्थंकर महावीर के रूप में जन्म लिया था और इस रूप में भी वह अयोध्या पधारे थे। यहाँ के सुभूमिभाग उद्यान में भगवान् महावीर ने मुमुक्षुओं का धर्मामृत पान कराया था तथा कोटिवर्ष के राजा चिलाति को वहीं जिन दीक्षा दी थी। भगवान् महावीर के नवम गणधर अचलभव का जन्म भी अयोध्या में ही हुआ बताया जाता है।

इस प्रकार अयोध्या में इस कल्पकाल में सच ही तीर्थंकर का जन्म न हुआ होने पर भी सबका ही कुछ-न-कुछ सम्बन्ध इस आदि तीर्थ के साथ रहा, अन्य अनेक शलाकापुरुषों एवं विशिष्ट पौराणिक व्यक्तियों की भी यह लीला भूमि रही, जिसके कारण जैन संस्कृति के साथ पावन नगरी अयोध्या का अटूट एवं घनिष्ठ सम्बन्ध सदैव से ही रहता आया है।

■

परिच्छेद–६

महावीरोत्तर इतिहास

श्रीतीर्थपान्थरजसा विरजीभवन्ति ।
तीर्थेषु विभ्रमणतो न भवे भ्रमन्ति ॥

महावीर निर्वाण के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् मगधनरेश नन्दिवर्धन ने इस नगर में मणिपर्वत नामक उत्तुङ्ग जैन स्तूप बनवाया था, जिसकी स्थिति वर्तमान मणिपर्वत टीला सूचित करता है । मौर्य सम्राट् सम्प्रति और वीर विक्रमादित्य ने इस क्षेत्र के पुराने जिन मंदिरों का जीर्णोद्धार एवं नवीनों का निर्माण कराया था । गुजरात नरेश कुमारपाल चौलुक्य (सोलंकी) ने भी यहाँ जिन मन्दिर बनवाये बताये जाते हैं । दसवीं-ग्यारहवीं शती ई० में यहाँ जैन धर्मावलंबी श्रीवास्तव्य कायस्थ राजाओं का शासन था, जिन्होंने सैयद सालार मसउद गाजी को, जो अवध प्रान्त पर आक्रमण करने वाला संभवतया सर्व प्रथम मुसलमान था, वीरता पूर्वक लड़कर खदेड़ भगाया था । सन् ११९४ ई० के लगभग दिल्ली विजेता मुहम्मद गोरी के भाई मखदूमशाह जूरन गोरी ने अयोध्या पर आक्रमण किया और ऋषभदेव-जन्मस्थान के विशाल जिनमंदिर को ध्वस्त करके उसके स्थान पर मसजिद बनवायी, किन्तु वह स्वयं भी युद्ध में मारा गया और उसी स्थान पर दफ़नाया गया, जो अब शाहजूरन का टीला कहलाता है । उसी टीले पर, मसजिद के पीछे की ओर, आदिनाथ का एक छोटा सा जिनमंदिर तो थोड़े समय पश्चात् ही पुनः बन गया, किन्तु चिरकाल तक उसका चढ़ावा अयोध्या के बकसरिया टोले में रहने वाले शाहजूरन के वंशज ही लेते रहे ।

सन् १३३० ई० के लगभग जैनाचार्य जिनप्रभसूरि ने दिल्ली के सुल्तान मुहम्मदबिन तुगलक से फर्मान प्राप्त करके संघ सहित अयोध्या तीर्थ की यात्रा की थी। उन्होंने अपने विविध तीर्थ कल्प के अन्तर्गत अयोध्यापुरी कल्प में लिखा है कि उस समय वहाँ जन्म लेने वाले पाँचों तीर्थंकरों के मंदिरों के अतिरिक्त, राजा नाभिराय (ऋषभदेव के पिता) का मंदिर, पार्श्वनाथ की वाड़ी, चक्रेश्वरी (ऋषभदेव की यक्षि) की रत्नमयी प्रतिमा, इसके संगी गोमुख-यक्ष की मूर्ति, सीताकुंड, सहस्रधारा, स्वर्गद्वार आदि जैन धर्मायतन विद्यमान थे, तथा नगर के प्राकार पर मत्तगयंद यक्ष का निवास था, जिसके आगे उस समय भी हाथी नहीं आते थे, जो आते भी थे वे तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे।

१५२८ ई० में मुगल बादशाह बाबर ने अयोध्या पर आक्रमण करके रामकोट में स्थित रामजन्म स्थान के मंदिर को तोड़कर मस्जिद बनाई और उपरोक्त जैन मंदिरों में से भी अनेकों को तुड़वाया लगता है। अकबर के उदार शासन में अयोध्या में जैन और हिन्दू मंदिरों का पुनः निर्माण हुआ और तीर्थयात्री भी आने लगे। वस्तुतः मध्यकाल में अयोध्या तीर्थ की यात्रार्थ आने वाले अनेक जैन यतियों, मुनियों, भट्टारकों, अन्य त्यागियों एवं गृहस्थों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। नगर के मुहल्ला कटरा में एक टोंक में एक जैन महात्मा के चरणचिह्न स्थापित है, जिस पर अंकित लख से विदित होता है कि वहाँ सीतल नाम के दिगम्बर जैन मुनिराज ने समाधिमरण किया था, जिसकी स्मृति में ब्रह्मचारी मानसिंह के पुत्र ने वैसाख सुदी ८, सोमवार, संवत् १७०४ (सन् १६४७ ई०– शाहजहाँ के राज्यकाल) में उक्त चरण चिह्नों को प्रतिष्ठापित किया था। यह सीतल मुनि वही प्रतीत होते हैं जो कविवर बनारसीदास के समय आगरा पधारे थे। स्वयं बनारसी दास अपनी युवावस्था में अपने कई साथियों सहित जौनपुर से अयोध्या की यात्रा करने

आये थे। बादशाह औरंगजेब के शासन काल में अयोध्या के मंदिरों का पुनः विध्वंस हुआ। अतएव सन् १७२२–२३ में अब सादत खाँ बुरहानुलमुल्क अवध का सूबेदार नियुक्त हुआ और उसके साथ दिल्ली से आये उसके खजांची एवं दीवान ला० केसरी सिंह ने, जो कि अग्रवाल जातीय दिगम्बर जैन थे, अयोध्या के जिनायतनों की दुर्दशा देखी तो उन्होंने उनका जीर्णोद्धार कराकर मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा, संवत् १७८१ (सन् १७२४ ई०) में उनकी पुनः प्रतिष्ठा कराई। इस प्रकार, स्वर्गद्वारी मुहल्ले में आदिनाथ, बकसरिया टोले में अजितनाथ, कटरा मुहल्ला में अभिनन्दननाथ और सुमतिनाथ तथा राजघाट पर अनन्तनाथ की टोंकों का उक्त ला० केशरी सिंह ने पुनर्निर्माण कराया था। उसके पश्चात्, संभवतया संवत् १९३६–४१ या सन् १८८० ई० के लगभग कटरा मुहल्ला की सुमतिनाथ टोंक को बीच में लेकर एक अच्छा मंदिर भी, पुराने मंदिर का जीर्णोद्धार करके बन गया।

१८९९ ई० (कार्तिक सुदी १३ सं० १९५६ में लखनऊ के ला० देवीदास गोटेवाले आदि जैन पंचों ने मिलकर उक्त सब टोंको और कटरा के मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया तथा मन्दिर के सामने एक विशाल धर्मशाला बनाने की नींव भी डाल दी। तदुपरान्त अवध के लखनऊ, बाराबंकी, फैजाबाद आदि जिलों के जैन अयोध्या तीर्थ के रखरखाव एवं विकास में योग देते रहे हैं।

कटरा में दुमंजली धर्मशाला है और उसके सम्मुख स्थित मन्दिर में चार वेदियां हैं, जिनमें से एक में भगवान् आदिनाथ और उनके दो पुत्रों, भरत और बाहुबलि की खड्गासन मनोज्ञ प्रतिमाएँ विराजमान हैं। उसी मुहल्ले में एक चहारदीवारी में बन्द बगीचे के मध्य सुन्दर श्वेताम्बर मंदिर है। राजघाट के अनन्तनाथ मन्दिर की स्थिति प्राकृतिक दृष्टि से दर्शनीय है। सन् १९६५ ई० में आचार्य देशभूषण की प्रेरणा और दिल्ली आदि

विभिन्न स्थानों के धर्मात्मा जैनों के उत्साह एवं सहयोग से मुहल्ला रायगंज में रियासती बाग के मध्य में एक नवीन भव्य मंदिर का निर्माण हुआ है जिसमें मूल नायक के रूप में ३१ फीट ऊँची विशाल एवं मनोज्ञ कायोत्सर्ग प्रतिमा भगवान् आदिनाथ की अपूर्व समारोह के साथ प्रतिष्ठित की गई है। अन्य भी कई प्रतिमाएँ हैं एवं सुविधाओं से युक्त धर्मशाला भी है। प्रतिवर्ष ऋषभजयन्ति (चैत्र वदी नवमी) के अवसर पर यहाँ भी भारी जैन मेला और रथोत्सव भी होता है।

इस प्रकार आदि जैन तीर्थ अयोध्या के जैन धर्मायतन मात्र जैनों के लिये ही नहीं सामान्य पर्यटकों के लिए भी दर्शनीय एवं प्रेरणा प्रद हैं। अयोध्या और उसके जैन स्मारक जैनसंस्कृति के इतिहास के एक बड़े अंश को अपने में समोये हुए है।

एसा पुरी अउज्झा सरऊ-जलसिच्चमाणगढ़भिती।
जिणसमयसत्ततित्थीजत्त पवित्तिअ जणा जयइ ॥

—(वि० ती० कल्प)

■

परिच्छेद–७

धर्मायतन और दर्शनीय स्थल

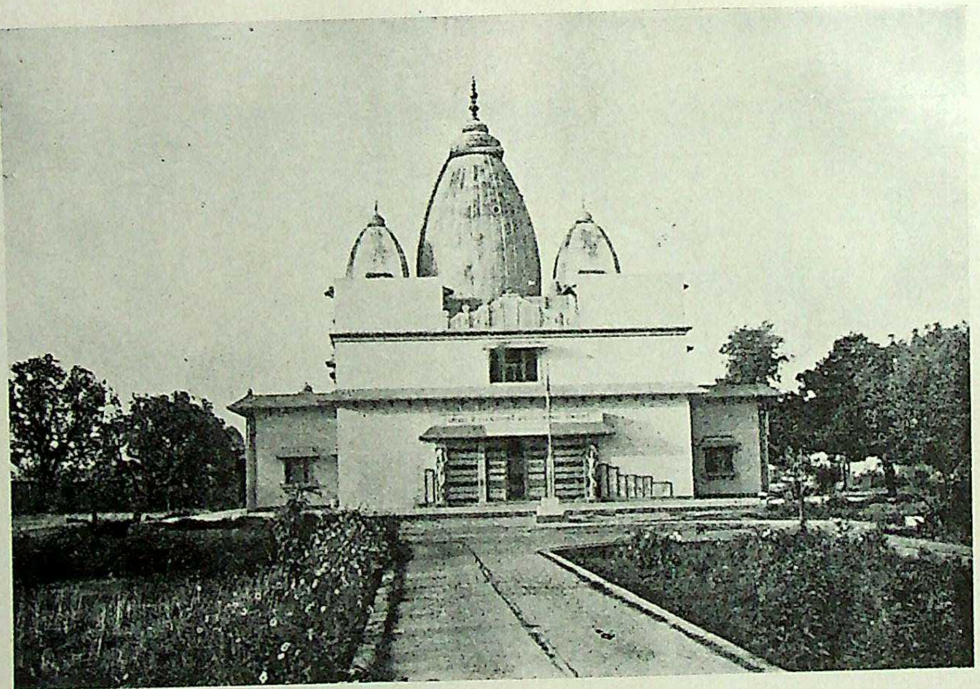
तीर्थव्ययादिह नराः स्थिरसंपदः स्युः ।
पूज्या भवन्ति जगदीशमथाश्रयन्तः ।।

अयोध्या नगरी का प्राचीन वैभव कालदोष से विलुप्त हो गया, तथापि आज भी वह एक धर्मपुरी है और अनगिनत मंदिरों, धार्मिक स्मारकों, सांस्कृतिक केन्द्रों एवं दर्शनीय स्थलों से परिपूरित है।

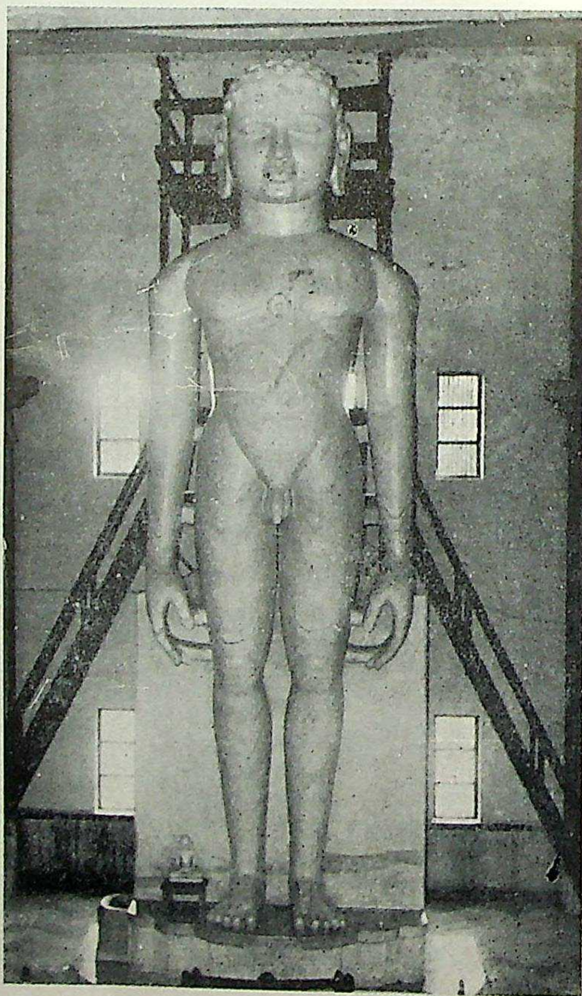
तीर्थराज अयोध्या के वर्तमान जैन धर्मायतन—

श्री आदिनाथ जिनालय, रायगंज

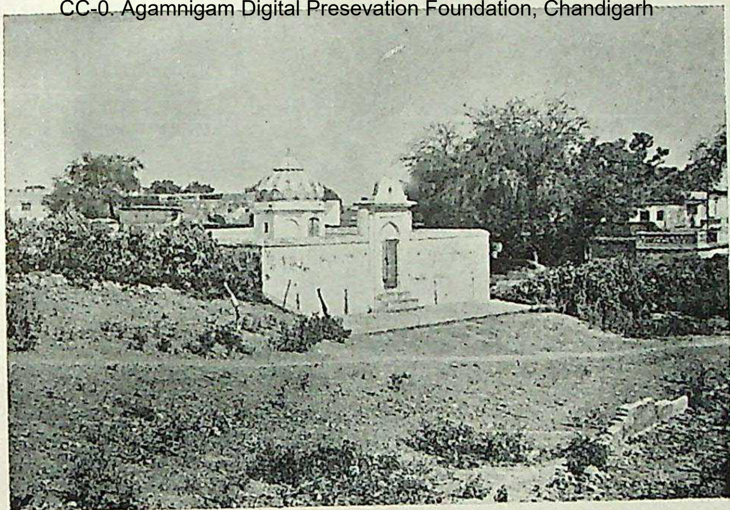
उत्तरी रेलवे के अयोध्या रेलवे स्टेशन से लगभग एक किलोमीटर की दूरी पर, अयोध्या नगर के प्रायः दक्षिणी छोर पर एक विशाल पक्के सुरम्य उद्यान (जो पहले रानी का बाग कहलाता था) के मध्य आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव का उत्तुंग भव्य जिनालय है। मूलनायक के रूप में भगवान् आदिनाथ की ३१ फुट ऊँची कायोत्सर्ग (खड्गासन) मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। इसके दाईं ओर तीर्थंकर अभिनन्दननाथ एवं सुमतिनाथ की और बाईं ओर तीर्थंकर अजितनाथ, अनन्तनाथ एवं चन्द्रप्रभु की लगभग साढ़े पाँच-पाँच फुट ऊँची खड्गासन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। सभी प्रतिमाएँ संगमरमर में निर्मित हैं। मूलनायक के सम्मुख स्थित विशाल श्रीमंडप के उभय पार्श्व में दो अलिंद हैं, जिनकी ऊपर की मंजिल में दो नवीन वेदियाँ अभी निर्मित हुई हैं। मंदिर तीहरे शिखर से युक्त है और एक विशाल चबूतरे के मध्य खड़ा है।



श्री आदिनाथ दि० जैन मंदिर रायगंज

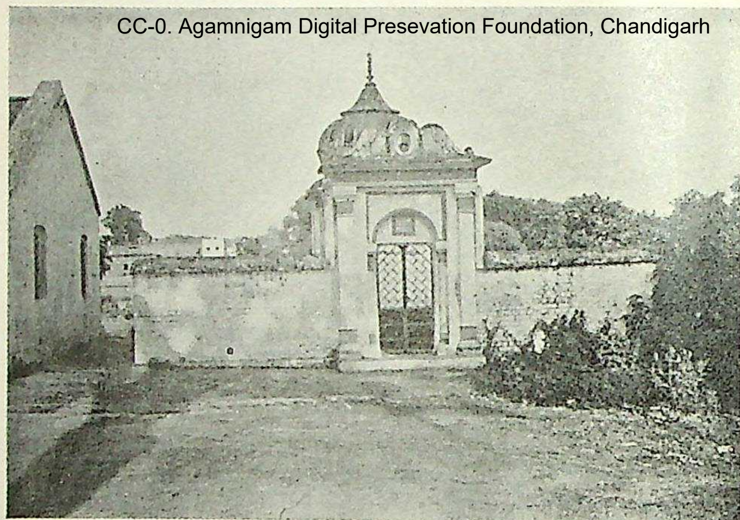


बड़ी मूर्ति—भगवान आदिनाथ रायगंज

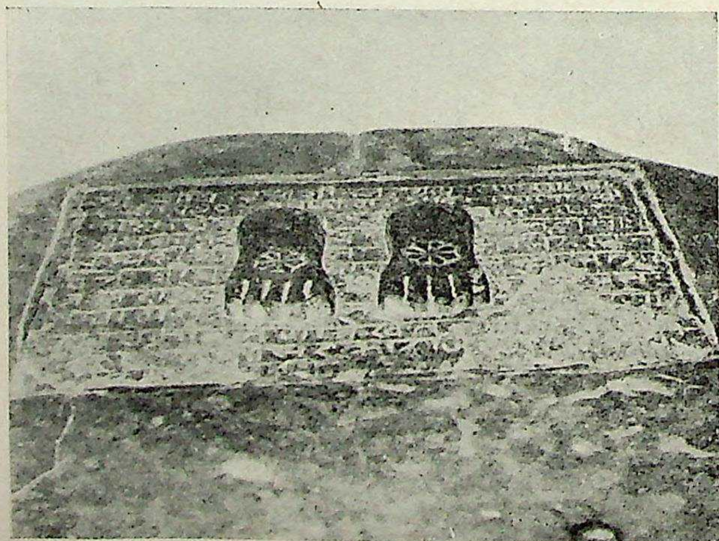


भगवान अभिनन्दननाथ जन्मस्थान टोंक

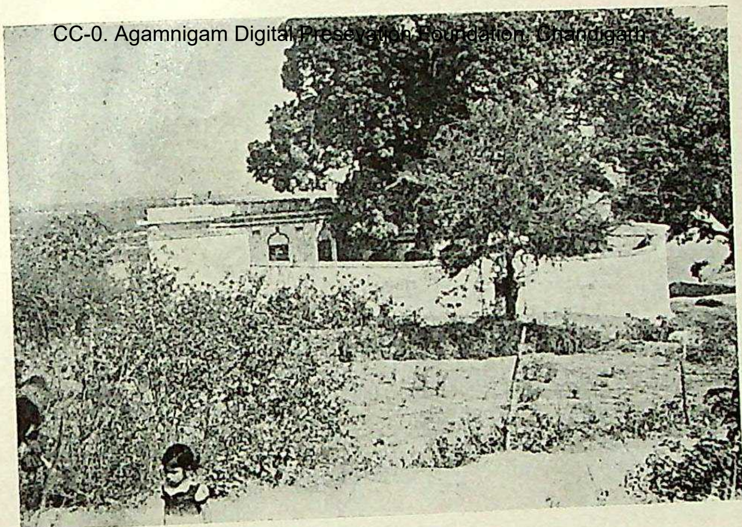
चरण चिन्ह—श्री अभिनन्दननाथ टोंक



शीतलनाथ मुनि समाधि टोंक

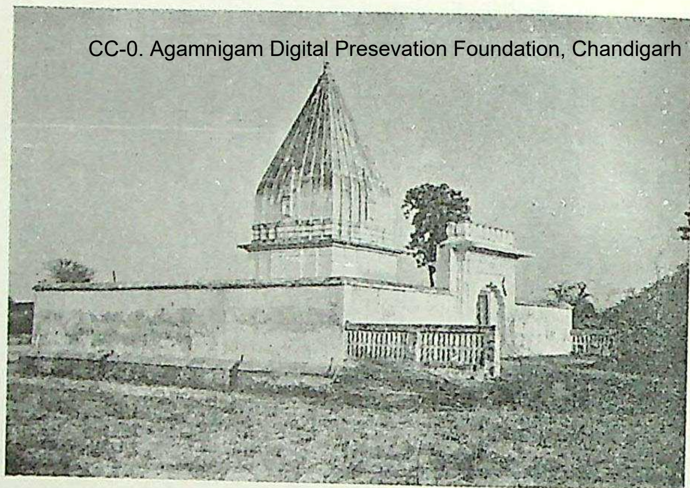


चरण चिन्ह—(प्राचीन) लेखांकित-शीतल मुनि टोंक



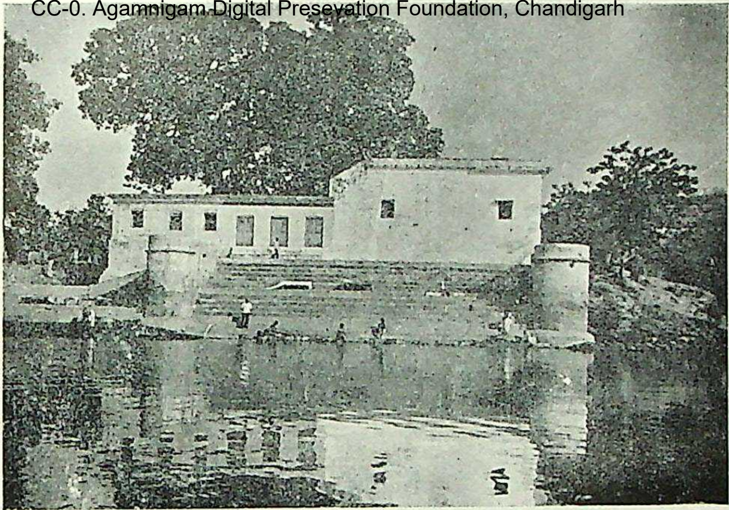
भगवान अनन्तनाथ टोंक, प्रवेश द्वार की ओर से

चरण चिन्ह—श्री अनन्तनाथ टोंक



भगवान अजितनाथ जन्मस्थान टोंक

चरण चिन्ह—श्री अजितनाथ टोंक

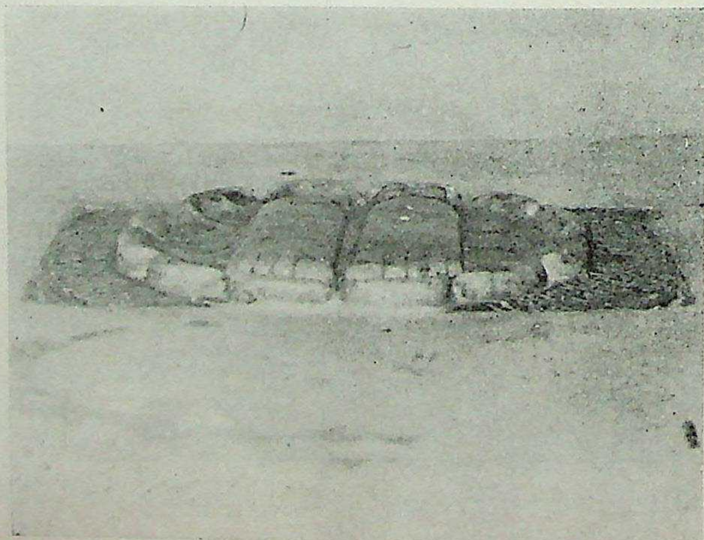


भगवान अनन्तनाथ जन्मस्थान टोंक राजघाट सरयू तट से

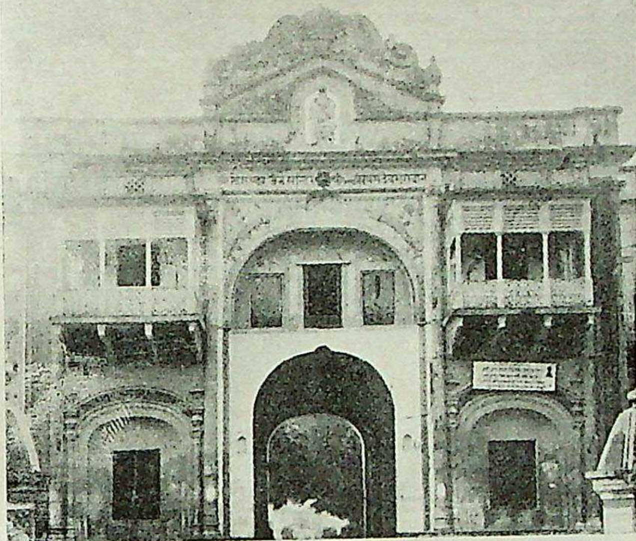
चरण चिन्ह—श्री सुमतिमाथ टोंक



भ० आदिनाथ जन्मस्थान टोंक

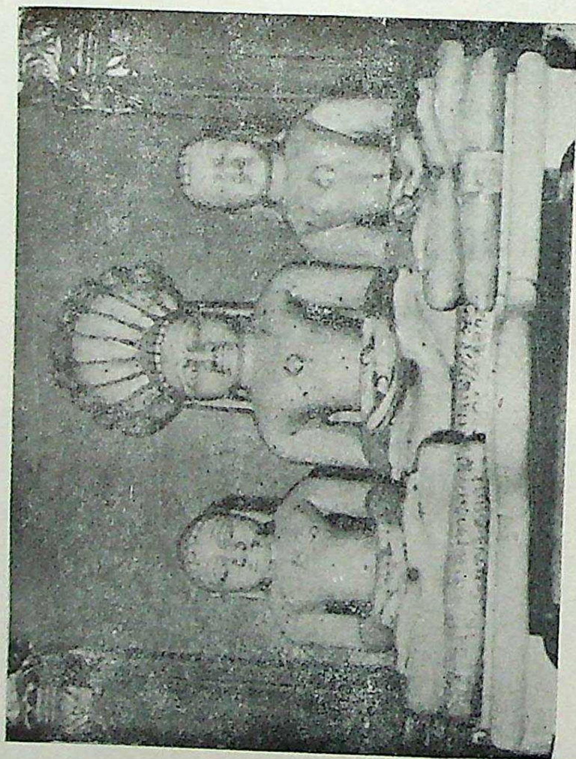


चरण चिन्ह—श्री आदिनाथ टोंक

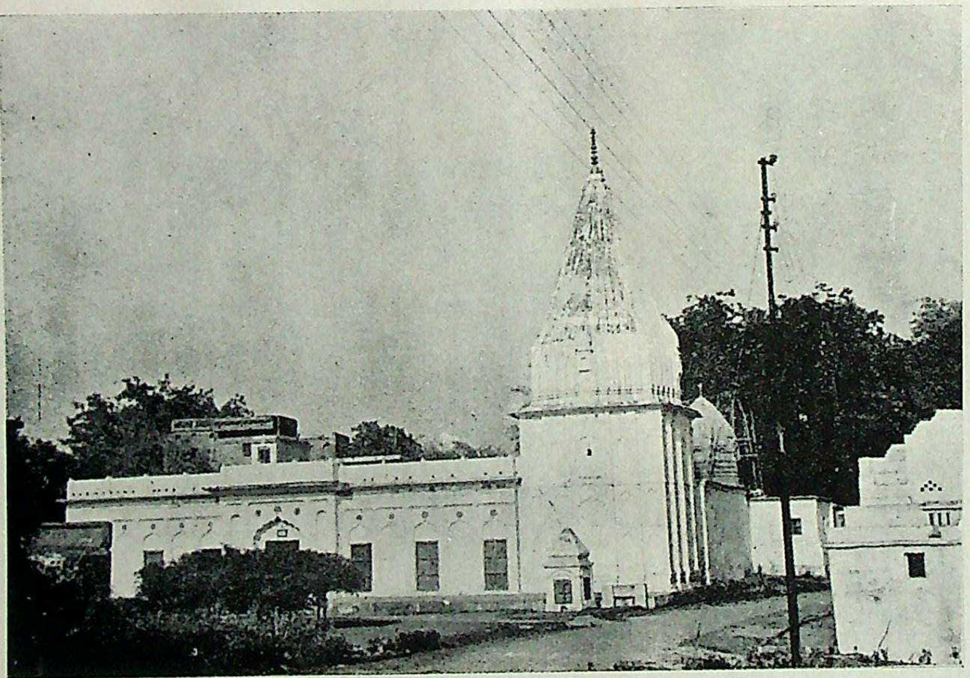


सिंहद्वार दि० जैन मंदिर, रायगंज

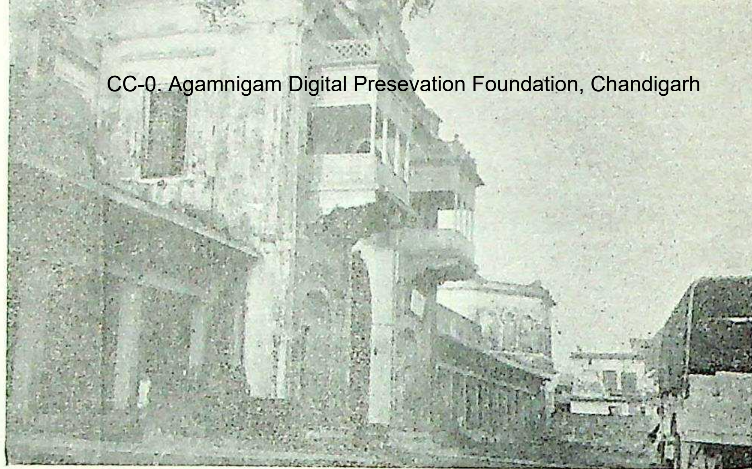
दि० जैन धर्मशाला कटरा



मुख्य वेदी दि० जैन कटरा



श्री दि. जैन मंदिर कटरा (पुराना)



दि. जैन धर्मशाला रायगंज (बाहरी दृश्य)



प्रवेश द्वार श्री दिगम्बरजैन धर्मशाला, कटरा

उद्यान के उत्तुंग सिंहद्वार में प्रवेश करते ही मन्दिर के भव्य दर्शन मन को मोह लेते हैं। उक्त द्वार के आजू-बाजू यात्रियों के निवास के लिए धर्मशाला है जो सामान्य सुविधाओं से युक्त है। इस नवीन आदिनाथ जिनालय का निर्माण आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज की लगभग दस वर्षों की सतत प्रेरणा के फलस्वरूप सन् १९६५ ई० में पूर्ण हुआ और उसी वर्ष उनके आशीर्वाद पूर्वक अयोध्या जी में पंचकल्याणक महोत्सव विशाल पैमाने पर हुआ जिसमें जिनालय की तथा उसमें विद्यमान जिन बिम्बों की शास्त्रानुसार प्रतिष्ठा हुई। जैनों के अतिरिक्त सहस्रों अजैन भक्त एवं दर्शनार्थी भी भगवन् आदिनाथ के दर्शनार्थ यहाँ आते रहते हैं।

दिगम्बर जैन मंदिर व धर्मशाला, कटरा मोहल्ला

कटरा मोहल्ले में स्थित प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर भी उत्तुंग शिखर युक्त अच्छा बड़ा है। इस मंदिर में चार वेदियाँ हैं। मुख्य या प्रथम वेदी में भगवान् आदिनाथ की श्वेतपाषाण की लगभग पौने तीन फुट ऊँची पद्मासनस्थ एवं मनोज्ञ प्रतिमा है जो वि० सं० २००९ (सन् १९५२) की प्रतिष्ठित है। उसके दक्षिण पार्श्व में भ० सुमतिनाथ की और वामपार्श्व में भ० अजितनाथ की प्रस्तरनिर्मित प्रतिमाएँ विराजमान हैं। भ० अजितनाथ की प्रतिमा (डेढ़ फुट ऊँची पद्मासनस्थ) वि० सं० १५४८ (सन् १४९१) की, सुप्रसिद्ध प्रतिमा प्रतिष्ठापक सेठ जीवराज पापड़ीवाल के लिए आचार्य जिनचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित है। मन्दिर की एक अन्य वेदी में भी उसी वर्ष की उन्हीं महानुभावों द्वारा प्रतिष्ठित दो अन्य प्रतिमाएँ हैं। किवदंती है कि राजस्थान के मुंडासानगर निवासी उक्त सेठ जीवराज पापड़ीवाले ने उक्त भट्टारक शिरोमणि जिनचन्द्राचार्य लाखों जिन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराई थीं और फिर छकड़ों में उक्त प्रतिमाओं को भरकर एक बड़े संघ के साथ उन्होंने सब

तीर्थों की यात्रा की थी। प्रत्येक तीर्थ पर तथा मार्ग में पड़नेवाले नगरों, ग्रामादिकों में जहाँ भी जिन मन्दिर हुआ उन्होंने कुछ प्रतिमाएँ विराजमान कीं, जहाँ मंदिर न हुआ और जैनों की बस्ती हुई वहाँ नवीन मंदिर स्थापित करने की प्रेरणा दी। ऐसा लगता है कि सेठ पापड़ीवाल जी अयोध्या की यात्रार्थ भी आये थे और उसी समय यहां के जिनमंदिर में भी उन्होंने कई प्रतिमाएँ पधराई थीं, जिनमें से वर्तमान में ये तीन ही बची हैं।

प्रथम वेदी में पूर्वोक्त तीन प्रतिमाओं के अतिरिक्त एक पाषाण की और १८ धातुमयी अन्य प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

प्रथम वेदी के कक्ष से लगे हुए एक कक्ष में द्वितीय वेदी है जिसमें पाषाण की तीन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। तीनों प्रतिमाओं पर लांछन स्पष्ट नहीं हैं। किन्तु मुख्य प्रतिमा को अभिनन्दन नाथ की मान्य किया जाता है। उसके पादपीठ पर जो अस्पष्ट सा लेख अंकित है उसमें प्रतिष्ठा तिथि आषाढ़ सुदी ८ वि० सं० १२२४ अर्थात् सन् ११६७ स्पष्ट पढ़ी जाती है, उससे यह भी विदित होता है कि यह प्रतिमा शाहजूरन गोरी के आक्रमण (११९४ ई०) के पूर्व की है और किसी प्रकार आततााइयों के कोप से बची रह गई। एक श्याम वर्ण की साढ़े नौ इंच अवगाहना की प्रतिमा वि० सं० १६२६ (सन् १५६९ ई०) की सम्राट् अकबर के काल की प्रतिष्ठित है।

द्वितीय वेदी के बाहर विशाल आंगन है जिसके उस पार तृतीय वेदी है जिसमें दो पाषाण प्रतिमाएँ हैं, एक सवा फुट ऊँची भगवान् पार्श्वनाथ की है और दूसरी पौनफुट ऊँची भ० चन्द्रप्रभ की है। दोनों पर लांछन एवं लेख अंकित हैं और वे वि० सं० १५४८ में प्रतिष्ठित सेठ जीवराज पापडीवाल वाली पूर्वोक्त प्रतिमाएँ ही हैं।

इस वेदी से लगे कक्ष में चतुर्थ वेदी है जिसपर मध्य में संग-

मरमर की ९ फुट ऊँची भगवान् ऋषभदेव की मनोज्ञ खड्गासन प्रतिमा विराजमान है। उसके एक ओर उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती की अर्हंतावस्था की तथा दूसरी ओर द्वितीय पुत्र योगीश्वर बाहुबलि की अर्हंतावस्था की, प्रत्येक साढ़े पाँच फुट अवगाहना की, सुन्दर खड्गासन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। मन्दिर के मुख्यद्वार के बाहर चबूतरे के सिरे से लगा हुआ जैन शासन देवी पद्मावती देवी का मूर्त्ति युक्त थान है।

मन्दिर के आंगन के मध्य में भगवान् सुमतिनाथ की टोंक है जिसमें सलेटी पाषाण पर उक्त पाँचवें तीर्थङ्कर के चरण चिह्न अंकित हैं। चरण चिह्नों पर दो लेख भी अंकित हैं। प्रथम से सूचित होता है कि मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा वि० सं० १७८१ (सन् १७२४ ई०) में दिल्ली निवासी ला० केसरी सिंह अग्रवाल जैन ने इस टोंक का जीर्णोद्धार कराया था। यह टोंक ५ वें तीर्थङ्कर के जन्मस्थान की प्रतीक मानी जाती है। ऐसा लगता है कि ला० केसरी सिंह ने, जो अवध के प्रथम नवाब वजीर सादत खाँ बुरहानुलमुल्क[१] (१७२२–१७३९ ई०) के खजाँची एवं दीवान थे,

❀ अयोध्या तीर्थ का इतिहास लिखने वाले प्रायः सभी लेखकों ने इस नवाब के नाम के विषय में गलती की है—किसी नेफैजुद्दीन या सैफुद्दीन लिखा है, किसी ने शुजाउद्दौला और किसी ने आसफउद्दौला। वास्तव में सन् १७२२ (वि० सं० १७७९) में दिल्ली के मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले ने इस ईरानी सरदार मुहम्मद अमीन उपनाम सादत खाँ बुरहानुलमुल्क को अवध का सूबेदार बनाकर भेजा था और वह इस पद पर १७३९ ई० से अपनी मृत्यु पर्यन्त बना रहा। ला० केसरी सिंह उसी के खजाँची थे और यहाँ आने के दो वर्ष के भीतर ही उन्होंने अयोध्या के जिनायतनों का जीर्णोद्धार कराया था। शुजाउद्दौला तो तीसरा और आसफउद्दौला चौथा नवाब अवध थे।

अवसर पाते ही अपने इस परमपूज्य पावन तीर्थ के जीर्णोद्धार का प्रयास किया था। उन्होंने प्राचीन मन्दिर का तथा विद्यमान पाँचों टोंकों का जीर्णोद्धार किया था। उस समय सूबा अवध की राजधानी अयोध्या ही थी। समस्त विद्यमान जिनायतनों स्मारकों आदि का जीर्णोद्धार करके उक्त मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा के दिन उक्त धर्मात्मा लाला जी ने धर्मोत्सवपूर्वक उन सबकी प्रतिष्ठा कराई लगती है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि वह नवाब के कृपापात्र थे, और नवाब भी सहिष्णु था तथा अपने आश्रितों की धार्मिक भावना का आदर करता था।

इस टोंक, मन्दिर व अन्य टोंकों आदि का पुनः जीर्णोद्धार ला० देवीदास गोटेवाले आदि लखनऊ के जैन पंचों ने कार्तिक सुदी १३ वि० सं० १९५६ (सन् १८९९ ई०) में कराया था। उसी समय मन्दिर के सामने, रास्ते के उस पार एक विशाल दो-मंजिली धर्मशाला की भी नींव डाल दी गई। शनैः शनैः वह धर्मशाला भी बनकर पूर्ण हो गई। उसी धर्मशाला में आचार्य देशभूषण दि० जैन गुरुकुल कालान्तर में स्थापित हुआ। श्री दि० जैन अयोध्या तीर्थ क्षेत्र कमेटी का कार्यालय भी, रायगंज के मन्दिर के निर्माण के पूर्व उसी धर्मशाला में रहा। कटरा के इस प्राचीन जिनमन्दिर एवं धर्मशाला के पुनः संस्कार एवं समयोचित विकास की आवश्यकता है।

इस जिन मन्दिर के पूर्व की ओर वैष्णव सम्प्रदाय का प्रसिद्ध केकयी भवन तथा पास में ही शैव सम्प्रदाय के दुर्गेश्वर महादेव स्थित हैं।

तीर्थंकर अभिनन्दननाथ की टोंक

कटरा मोहल्ले में ही कटरा स्कूल के निकट चौथे तीर्थङ्कर अभिनन्दननाथ के जन्मस्थान के प्रतीक रूप में टोंक है जो शिखर बन्द है तथा चहार दीवारी के मध्य स्थित है। लेख युक्त संगमरमर

के चरणचिह्न टोंक में स्थापित है। इस टोंक का भी जीर्णोद्धार १७२४ ई० में ला० केसरी सिंह ने और तदनन्तर १८९९ ई० में लखनऊ के पंचों ने कराया था, जैसा कि शिलालेखों से प्रगट है।

शीतल मुनि की टोंक

कटरा मोहल्ले में ही, भ० अभिनन्दननाथ की टोंक से नाति दूर शीतल मुनि नामक एक दिगम्बर योगिराज की लेखांकित चरणचिह्न युक्त टोंक है। टोंक के ऊपर शिखर है, और यह भी एक चहार दीवारी के मध्य स्थित है। लेख से विदित होता है कि यह चरणपादुका वैसाख सुदी ८ सोमवार वि० सं० १७०४ (सन् १६४७ ई०) में ब्रह्मचारी मानसिंह के पुत्र ने स्थापित की थी। ऐसा लगता है कि यह शीतल मुनि वही दिगम्बर साधु थे जिनका उल्लेख पं० बनारसीदास से सम्बन्धित अनुश्रुतियों में मिलता है। उन्होंने आगरा में बिहार किया था जब बनारसीदास वहाँ निवास करते थे, दोनों समकालीन थे और मुगल बादशाह शाहजहाँ का शासन काल था। ऐसा लगता है कि अपने अन्तसमय में मुनिराज शीतल ने अयोध्या तीर्थ का सेवन किया और यहीं समाधिमरण किया, जिसकी स्मृति में उनके भक्त शिष्य ब्रह्मचारी मानसिंह के पुत्र ने, जो संभवतया गृहस्थ था और अयोध्या में ही निवास करता था, उनका यह स्मारक स्थापित किया था।

तीर्थंकर अनन्तनाथ की टोंक

सरयू नदी के तटवर्ती राजघाट पर चौदहवें तीर्थंकर भगवान अनन्तनाथ की चरण चिह्न युक्त टोंक है। एक कम्पाउण्ड के भीतर चरण चिह्न वाले कमरे के अतिरिक्त तीन कमरे और हैं, जिनमें से एक में एक पक्का कुआँ भी है। चरण चिह्न युक्त टोंक का जीर्णोद्धार १७२४ ई० में ला० केसरी सिंह ने, १८९९ ई० में लखनऊ के पंचों ने तथा १९६५ ई० में लखनऊ के ही ला० जम्बू-प्रसाद ने अपने पितामह ला० नेमदास की स्मृति में कराया था।

इस टोंक से लगे हुए टीले की पुरातत्त्व विभाग ने खुदाई भी कराई थी और अब से लगभग सौ वर्ष पूर्व जनरल कनिंघम ने उस टीले का वर्णन 'जैन टीला' नाम से किया था। लगभग १५ वर्ष पूर्व भ० अनन्तनाथ के इस मंदिर को सरयू नदी की बाढ़ से भारी क्षति पहुँची थी। तीर्थ क्षेत्र कमेटी ने प्रयत्नपूर्वक जीर्णोद्धार कराया था। १९६५ का जीर्णोद्धार उसी सिलसिले में था। राजघाट नाम से लगता है कि किसी जैन नरेश ने कभी पूर्वकाल में इस घाट पर जिन मंदिर बनवाया होगा। मन्दिर की स्थिति प्राकृतिक दृष्टि से भी अति मनोरम एवं दर्शनीय है। कटरा दि० जैन मंदिर से उस मंदिर तक अच्छी सड़क है जिसका बहुभाग पक्का है, कुछ कच्चा है।

तीर्थंकर अजितनाथ की टोंक

बकसरिया टोले में जिसे बेगमपुरा भी कहते हैं, दूसरे तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ के जन्म स्थान के प्रतीक रूप शिखर बन्द एवं चरण चिन्ह युक्त टोंक, एक घिरे हुए आँगन के मध्य स्थित है। चरण चिन्हों पर ला० केसरी सिंह तथा लखनऊ के पँचों द्वारा जीर्णोद्धार कराने के सूचक पूर्वोक्त जैसे शिला लेख हैं।

भगवान् आदिनाथ जन्म स्थान टोंक

स्वर्गद्वारी मोहल्ले में शाहजूरन के टीले पर स्थित मस्जिद के पृष्ठभाग में काफी ऊँचाई पर यह टोंक एक बन्द कक्ष में स्थित है जिसके बाहर आँगन एवं एक बरामदा बना है। यह इमारत मूलतः भी अपेक्षाकृत प्राचीन लगती है, यद्यपि बीच-बीच में जीर्णोद्धार होता रहा है। ऐसी मान्यता है कि पूर्वकाल में इसी स्थान पर आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव का जन्म स्थान का सूचक भव्य एवं विशाल जिनमन्दिर था, जिसका अपरनाम संभवतया स्वर्गद्वार जिनालय था। बारहवीं शताब्दी ई० के अन्तिम दशक में भारत पर आक्रमण करने वाले मुइज़ुद्दीन बिनसाम मोहम्मद

गोरी के भाई मखदूम शाहजूरन गोरी ने अपने अयोध्या पर आक्रमण के समय इस प्राचीन आदिनाथ जिनालय को ध्वस्त कर दिया था और उसके स्थान में मस्जिद बना दी थी। कालान्तर में जैनों के आग्रह पर तथा एक चमत्कार के फलस्वरूप वहाँ जैनों का अपना चरणचिन्ह युक्त मंदिर बनाने की अनुमति मुसलमान शासकों ने दे दी थी। किंवदन्ती है कि जैनों ने जब आग्रह किया कि यह हमारा प्राचीन पवित्र स्थल है, भगवान् आदि देव का जन्म स्थान है, अतएव यहाँ मंदिर अवश्य रहना चाहिए। इसपर उनसे इसके समर्थन में प्रमाण माँगा गया तो उन्होंने कहा कि स्थान की खुदायी करके देख लिया जाय, एक स्वस्तिक, नारियल तथा जलता हुआ घृत दीप मिलेगा। अस्तु खुदाई हुई और वे सब वस्तुएँ यथावत् मिलीं। इस पर जैनों को यहाँ मन्दिर बनाने की इज़ाजत मिल गई। कोई कहता है कि यह घटना शाहजूरन के समय की ही है, कोई इसे मुगल बादशाह बाबर या अकबर के समय की बताते हैं और कोई अवध के प्रथम नवाब सादत खाँ और उसके खजांची ला० केसरी सिंह के समय की बताते हैं। कुछ हो, इस टोंक का चढ़ावा भी पुराने समय से ही बकसरिया टोले में रहने वाले शाहजूरन गोरी के वंशज लेते रहे थे। ऐसा लगता है जैसा कि शिलालेख से भी स्पष्ट है कि यह टोंक ला० केसरी सिंह के समय के पूर्व से ही विद्यमान थी और उन्होंने १७२४ ई० में उसका जीर्णोद्धार एवं पुनः प्रतिष्ठा कराई थी। तदनन्तर १८९९ ई० में लखनऊ के पंचों ने तथा १९५६ ई० में ला० जम्बू प्रसाद गोटे वाले लखनऊ निवासी ने अपने पिता ला० धर्म-चन्द की स्मृति में पुनः जीर्णोद्धार कराया और बाहरी दालान को ठीक कराया था।

श्वेताम्बर जैन मंदिर

कटरा मोहल्ले में दिगम्बर मंदिर एवं धर्मशाला से थोड़ी दूर

पर एक पक्की चहार दीवारी बन्द वाटिका के मध्य संगमरमर से निर्मित एक सुन्दर श्वेताम्बर जिनालय है जिसके मध्य में संगमरमर का सुन्दर समवसरण निर्मित है। इसे दूसरे तीर्थंकर भ० अजितनाथ के ज्ञानकल्याण का सूचक मानते हैं। मन्दिर की दीवारें सुन्दर पौराणिक प्रस्तराङ्कनों से अलङ्कृत हैं। कहते हैं कि इस मंदिर के निर्माण में १६ वर्ष लगे थे। मंदिर की व्यवस्था उत्तम है। मंदिर का निर्माण बम्बई की गौड़ी जी जैन मंदिर ट्रस्ट की ओर से वर्तमान शती में ही हुआ बताया जाता है।

हनुमानगढ़ी

बाजार के मध्य स्थित अयोध्या का सर्वप्रसिद्ध हनुमान मंदिर है जो बहुत ऊँचाई पर एक सुदृढ़ दुर्ग के रूप में बना हुआ है। कहा जाता है कि मूलतः यहाँ एक विशाल जिनमंदिर था जिसमें एक इतना बड़ा घंटा लगा था कि उसकी ध्वनि सुदूर गोंड़ा तक सुनाई पड़ती थी। वर्तमान इमारत अवध के नवाव आसफुद्दौला के मन्त्री राजा टिकैतराय ने १८ वीं शती ई० के अन्त के लगभग बनवाई थी। नवाबी शासन में यह वैष्णव गोसाईंयों का प्रधान गढ़ था और मुसलमान आततायियों के साथ उन्होंने अपनी इस सुदृढ़ गढ़ी से सफल युद्ध कई बार किये थे और स्वधर्म की रक्षा की थी। मंदिर में बजरंगबली हनुमान की मूर्ति प्रतिष्ठित है, और यह भी कहा जाता है कि उनकी जननी अञ्जनी की भी एक मूर्ति है। महावीर हनुमान अपरनाम अणुमान एवं श्री शैल महामुनि का जैन परम्परा में भी बड़ा माहात्म्य है। वह चरम शरीरी थे जो तप करके अर्हंत परमात्मा हुए और अन्त में सिद्धत्व को प्राप्त हुए।

रत्नपुरी

अयोध्या-लखनऊ मार्ग पर फैजाबाद जिले में ही, अयोध्या से लगभग २० किलोमीटर पर और सोहावल रेल स्टेशन से २ कि०

मी० पर स्थित रौनाही नाम का गाँव है उपरोक्त राजमार्ग से लगभग २ कि० मी० कच्चा-पक्का मार्ग चलकर। इस गाँव से ही प्राचीन रत्नपुर, रत्नपुरी या रत्नावहपुर की पहचान की जाती है, जहाँ १५वें तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान कल्याणक हुए, उनका प्रथम समवसरण लगा और धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ। भगवान् धर्मनाथ भी इक्ष्वाकु वंशी एवं कश्यप गोत्रीय थे। १४वीं शताब्दी में आचार्य जिनप्रभसूरि ने इस नगर की यात्रा की थी। उन्होंने इस तीर्थ के धर्मायतनों का वर्णन किया है और एक अनुश्रुति का वर्णन किया है जो इस नगर के निवासी एक कुम्हार के बालक और एक नागकुमार जाति के देवता से सम्बन्धित है। अन्ततः नागकुमार के शाप के कारण तभी से इस गाँव में कोई कुम्हार नहीं रहता—ग्रामवासी उपयोग के लिए बरतन-भाड़े अन्य ग्रामों से लाते हैं। नाग मूर्ति से वेष्टित भ० धर्मनाथ की पूजा भी ग्रामवासी चिरकाल तक करते रहे। कहते हैं कि जब वर्षा नहीं होती तो लोग भ० धर्मनाथ का दूध से अभिषेक करते थे और उनका विश्वास रहा कि वैसा करने से वर्षा तत्काल होने लगती है।

गाँव के दूसरे छोर पर, सरयू नदी तट के निकट भ० धर्मनाथ का प्राचीन छोटा सा मंदिर है। उसमें मूलनायक के स्थान पर भ० धर्मनाथ की वज्रलांछन युक्त श्वेत पाषाण की तीन फुट ऊँची पद्मासनस्थ मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। प्रतिमा अर्वाचीन है, वि० सं० २००७ की प्रतिष्ठित है। एक बादामी रंग के पाषाण की एक फुट ऊँची पद्मासनस्थ प्रतिमा भ० महावीर की महावीर वि० सं० २४६३ (सन् १९३६) की प्रतिष्ठित है। एक धातुमयी एक फुट ऊँची प्रतिमा भ० धर्मनाथ की है और एक अन्य ८ इंच ऊँची धातु प्रतिमा भ० पार्श्वनाथ की है जो वि० सं० ११९० (सन् ११३३ ई०) की प्रतिष्ठित है। एक अठपहल पीतल की प्लेट में

भगवान् के रजतमयी चरण चिन्ह अंकित हैं। वहीं एक अभिलेख है "श्री संमत १८३९ रत्नपुर नग्रे श्री धर्मनाथ बनवाई सालवाहन ज्ञानानन्द उपदेशे पांडे गंगा विसनयेन–१५"–अर्थात् यह अभिलेख सन् १७८२ ई० का, नवाब आसफुद्दौला के शासनकाल का हैं। मन्दिर के सामने ही एक पांच दरों वाली अपूर्ण धर्मशाला है जिससे लगे मकान में मंदिर की मालिन रहती है।

इस मंदिर के थोड़ा आगे चलकर ऊँचाई पर बना एक स्तूपाकार अन्य मंदिर है जिसके एक आले में भ० धर्मनाथ के चरण चिन्ह विराजमान हैं। उन पर अंकित शिलालेख है "॥१५॥ श्री धर्मतिथि के कर्ता धर्मनाथ स्वामि का गर्भ कल्याणक है। रत्नपुर नगरि ॥श्री॥" वहीं एक अन्य शिलालेख है जिससे सूचित होता है कि स० सं० २४७८, वि० सं० २००९, अर्थात् १९५२ ई० में आचार्य देशभूषण जी ने इन चरण चिन्हों की पं० मुन्नालाल से पुनः प्रतिष्ठा कराई थी।

इस प्राचीन रत्नपुरी तीर्थ की दशा जीर्ण है, कुछ उपेक्षित सा भी रहा है। अब उत्तर प्रदेश दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी इसके समुचित जीर्णोद्धार एवं विकास के लिए प्रयत्नशील है।

ग्राम के इस ओर सड़क के छोर के निकट एक पक्की बन्द चहारदीवारी में श्वेताम्बर समाज के दो मंदिर तथा चारों कोनों पर चार टोंके हैं।

अयोध्या के अन्य दर्शनीय स्थल

वर्तमान में अयोध्या वैष्णव सम्प्रदाय की रामाश्रयी शाखा का प्रमुख गढ़ है और यहाँ सैकड़ों भव्य मंदिर एवं धर्मशालाएँ हैं। प्रसिद्ध दर्शनीय मन्दिरों में रामजन्म स्थान का मंदिर, जिसे बाबर बादशाह के समय में तोड़कर मस्जिद बनाने का प्रयास किया गया था। उसमें कई प्राचीन कसौटी के उत्खनित

स्तंभ भी लगे हैं, जिन्हें महाराज विक्रमादित्य द्वारा बनवाये गये बताया जाता है। इसी मंदिर के निकट सीता की रसोई एवं सीताकूप हैं। विद्यादेवी का मंदिर राम के विद्यारम्भ स्थान का सूचक है। रामकोट में ही स्थित कनक भवन एक विशाल एवं भव्य मन्दिर है। अयोध्या का यह प्रधान राम-मंदिर है। कालेराम मंदिर में राम-लक्ष्मण-जानकी की कृष्ण पाषाण की प्राचीन मूर्तियाँ विराजमान हैं। स्वामी नारायण मंदिर दिव्य कलाकुंज रूपकलाकुंज, साँवलिया जी का मंदिर, आनन्द भवन, कोप भवन, बिड़ला मन्दिर, लक्ष्मण किला आदि कई अन्य प्रसिद्ध राम मंदिर हैं। हनुमानगढ़ी हनुमान जी का प्रसिद्ध मंदिर है। क्षीरेश्वर नाथ, नागेश्वरनाथ, दुर्गेश्वरनाथ आदि कई शैव मंदिर हैं। तुलसी चौरा मानस मंदिर आदि कई दर्शनीय आधुनिक भवन भी हैं। महन्तों को कई मठ (छावनियाँ या अखाड़े) हैं। मणिपर्वत, दाँतुन कुण्ड, सहस्त्रधारा, सप्तसागर, नन्दिग्राम, सरयू नदी के सुन्दर घाट, सिख गुरुद्वारा, खुर्द मक्का आदि अनेक देखने योग्य स्थान अयोध्या में हैं। अयोध्या से लगभग ६ कि०मी० पर स्थित फैजाबाद में जो जिले का केन्द्रीय स्थान भी है, नवाबीकाल के अनेक बाग, बाजार एवं सुन्दर इमारते हैं; जिनमें नवाब वजीर शुजाउद्दौला का गुलाबवाड़ी मकबरा उसकी बेगम का मकबरा दर्शनीय है। फैजाबाद में एक दिगम्बर जैन मंदिर भी है।

■

परिच्छेद–८

विकास और व्यवस्था

आदितीर्थ अयोध्या भगवान् ऋषभदेव के समय से लेकर भगवान् महावीर के निर्वाण पर्यन्त, सुदीर्घ चतुर्थकाल में तो वस्तुतः प्रमुख जैन नगरी ही रही। तदुपरान्त बौद्ध, शैव, वैष्णवादि अन्य सम्प्रदायों का विकास होने से शनैः शनैः उनका भी प्रवेश इस पावन नगरी में हुआ, तथापि १२वीं शती ई० के अन्त पर्यन्त अयोध्या मुख्यतया एक जैन तीर्थ स्थान रही। यहाँ तब तक अनेक भव्य जिन मन्दिर विद्यमान थे और जैनों की अच्छी बस्ती भी रही प्रतीत होती है। मुसलमानी शासनकाल में आये दिन जैन एवं हिन्दू आदि मंदिरों का ध्वंस होता रहा। बस्ती भी उजड़-सी गई। फिर भी धर्मप्राण जैनों ने यहाँ अपने कुछ-न-कुछ धर्म स्थान बनाये रखे, पावन तीर्थ क्षेत्र के रूप में उसकी मान्यता बनी रही और तीर्थ की वन्दना करने के लिए लोग बराबर आते रहे। रामभक्त वैष्णव सम्प्रदाय का यहाँ अत्यधिक प्रभाव बढ़ जाने से भी इस स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा।

अयोध्या में ११वीं-१२वीं शती की प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ आज भी विद्यमान हैं। आचार्य जिनप्रभसूरि ने १४वीं शती के प्रथम पाद में और लोकहिताचार्य ने अन्तिम पाद में अयोध्या की यात्रा की थी। भट्टारक जिनचन्द्राचार्य और सेठ जीवराज पापड़ीवाल ने १५वीं शती के अन्त के लगभग अयोध्या की ससंघ यात्रा की थी। उनके द्वारा १४९१ ई० में प्रतिष्ठापित तीर्थंकर प्रतिमाओं में से तीन आज भी अयोध्या के जिनमंदिर में विराजमान हैं। सम्राट् अकबर के शासनकाल में, १६वीं-१७वीं शती में भी तीर्थयात्रियों

को सुविधा रही प्रतीत होती है। जहाँगीर के शासनकाल में पं० बनारसीदास के जौनपुर से कुछ साथियों के साथ यात्रार्थ अयोध्या आने का उल्लेख मिलता है, और शाहजहाँ के शासनकाल में दिगम्बर मुनिराज सीतल ने यहीं कुछ काल निवास और अन्त में समाधिमरण किया था। अवध के प्रथम नवाब के शासन के दूसरे ही वर्ष में उसके दीवान केसरीसिंह अग्रवाल ने अयोध्या के जैन धर्मायतनों का जीर्णोद्धार कराके पुनः प्रतिष्ठा कराई थी। उस समय भी कुछ जैनों का यहाँ निवास रहा प्रतीत होता है। और तभी से आधुनिक युग में वर्तमान दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र अयोध्या के विकास एवं व्यवस्था का इतिहास प्रारंभ होता है।

वस्तुतः अन्य तीर्थों की भाँति अयोध्या में भी गत १९वीं शताब्दी के प्रायः मध्य तक दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद था ही नहीं। जैन मात्र चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय या प्रदेश के रहें, समभाव से तीर्थराज की यात्रा और टोंकों आदि की वन्दना करते आते थे। अयोध्या का वर्तमान श्वेताम्बर जैन मंदिर तो लगभग पचास-साठ वर्ष पूर्व ही बना है, अन्य वर्तमान वैष्णव, शैवादि मंदिर धर्मायतन या संस्थान भी प्रायः सब गत लगभग दो सौ वर्षों के बीच ही निर्मित या स्थापित हुए हैं।

१८वीं शती के अन्तिम पाद में नवाब आसफुद्दौला ने जब फैज़ाबाद का परित्याग करके लखनऊ को राजधानी बनाया तभी से फैज़ाबाद की स्थिति गौण हो गई और स्वयं अयोध्या का महत्त्व भी मात्र तीर्थरूप रह गया। अयोध्या और फैज़ाबाद में बसे जैनी जन भी लखनऊ अथवा आस-पास के अन्य नगरों, ग्रामों आदि में जा बसे। उसी नवाब के समय. १७८२ ई० में रत्नपुरी के जैन धर्मायतनों का जीर्णोद्धार हुआ था। तभी अयोध्या में भी तीर्थ संरक्षण सम्बन्धी कुछ कार्य हुआ लगता है। सन् १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य समर की विफलता और पुनः अंग्रेजी शासन एवं शान्ति

की स्थापना होने पर लखनऊ, बाराबंकी (नवाबगंज), टिकैतनगर, दरियाबाद, त्रिलोकपुर, गनेशपुर, फ़ैज़ाबाद आदि उन नगरों व ग्रामों के जैन बन्धुओं ने, जहाँ उनकी अपेक्षाकृत अच्छी बस्तियाँ अयोध्या एवं रत्नपुरी तीर्थों के संरक्षण, रख-रखाव एवं प्रबन्ध में रुचि लेना और सक्रिय योग देना प्रारंभ किया।

ऐसा लगता है कि लखनऊ के दिगम्बर जैन पंचों के नेतृत्व में इस प्रकार का सुनिश्चित प्रयत्न १८७९-८४ ई० (वि० सं० १९३६-४१) में हुआ, जब कटरा के वर्तमान दिगम्बर जैन मन्दिर को व्यवस्थित करके शिखरबन्द किया गया और मुख्य द्वार आदि का निर्माण हुआ। धर्मशाला आदि निर्माण करने के उद्देश्य से मन्दिर के आस-पास भूमि का क्रय करने का प्रयत्न भी तभी चालू हुआ लगता है। प्रायः उसी काल में एक गौड़ ब्राह्मण सूरजवली को मंदिर व टोंकों का पुजारी नियुक्त किया गया। उसकी कुछ वृत्ति बाँध दी गई और मंदिर के निकट ही एक मकान उसे रहने के लिए दे दिया गया। दर्शनार्थियों द्वारा चढ़ाई गई सामग्री व इनाम-इक़राम भी उसे मिलते रहते थे। मंदिर की नित्य पूजा-प्रक्षाल, सफाई व सुरक्षा, टोकों की देखभाल और यात्रियों को ले जाकर टोंकों के दर्शन कराना, आदि उसके कर्त्तव्य थे।

सन् १८९९ में जब ला० देवीदास गोटेवाले आदि लखनऊ के जैन पंचों ने अयोध्या में पुनः जीर्णोद्धार कार्य एवं प्रतिष्ठा कराई तथा कटरा में मंदिर के सामने एक विशाल धर्मशाला बनवाना प्रारंभ किया तो उपरोक्त प्रबन्ध और अधिक व्यवस्थित किया गया। अवध के अन्य अनेक सज्जनों का भी, जिनमें ला० जयचन्द्र उर्फ उल्लाशाह टिकैतनगर का नाम विशेष उल्लेखनीय है, इस कार्य में सहयोग रहा। प्रायः उसी काल में फ़ैज़ाबाद में समाज सेवाभावी डा० भागीरथ प्रसाद जैन आकर बसे। स्थान से निकटतम रहने के कारण क्षेत्र की देखभाल एवं पुजारी पर नियन्त्रण रखने

का कार्य उन्हें सौंपा गया, जिसे वह जीवन पर्यन्त करते रहे, और उनके स्वर्गवास के बाद उनके सुपुत्र डा० प्रेमसागर भी अनेक वर्षों तक करते रहे।

जैन तीर्थयात्री तो देश के भिन्न-भिन्न स्थानों से अयोध्या में प्रायः वर्ष भर आते रहते थे, किन्तु प्रतिवर्ष चैत्र कृष्ण नवमी को भ० ऋषभदेव की जन्म जयन्ती के अवसर पर यहाँ दो-तीन दिन का जैन मेला एवं रथोत्सव होता आया है। उस समय, विशेषकर अवध प्रान्त के निवासी जैनी जन अयोध्या में एकत्र होकर क्षेत्र के संरक्षण, उन्नति, आवश्यकताओं एवं व्यवस्था के विषय में विचार-विमर्श करते और निर्णय लेते रहे। सन् १९४० के लगभग एक विधिवत गठित श्री दि० जैन अयोध्या तीर्थ कमेटी की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। पुजारी सूरजबली का देहान्त हो चुका था और उसके स्थान में उसके लड़के गंगाप्रसाद एवं सायरप्रसाद कार्य करने लगे थे। किन्तु बहुधा हिन्दू तीर्थों के पण्डों जैसा आचरण करने लगे और तीर्थ को अपनी बपौती समझने लगे। व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं रहती थी और यात्री बहुधा उनकी शिकायत करते थे।

१९४४ ई० में लखनऊ में साहू शान्तिप्रसाद जी की अध्यक्षता में अ० भा० दि० जैन परिषद का अधिवेशन हुआ तो उसके प्रसंग से और श्री जिनेन्द्रचन्द्र कागज़ी आदि के प्रयत्न से परिषद की अवध प्रान्तीय शाखा स्थापित हुई, अवध जैन डायरेक्टरी प्रकाशित हुई और इस प्रान्त के जैन तीर्थों के संरक्षण हेतु अवध प्रान्तीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी का गठन किया गया। यह प्रयोग विशेष सफल या स्थायी तो नहीं हो सका, किन्तु उसी प्रान्तीय कमेटी की प्रेरणा से श्रावस्ती तीर्थ के जिनमंदिर व धर्मशाला के निर्माण का कार्य आरंभ हुआ, और श्री दिगम्बर जैन अयोध्या तीर्थक्षेत्र कमेटी का विधिवत् गठन हो गया। रत्नपुरी तीर्थ का प्रबन्ध भी इसी कमेटी

के अन्तर्गत हुआ। पं० कामताप्रसाद जैन को तीर्थ का वैतनिक प्रवन्धक नियुक्त किया गया। ब्राह्मण पुजारियों के चंगुल से तीर्थ की व्यवस्था को निकालने के लिए उनके साथ मुकदमेबाज़ी भी शुरू हो गई, जिसमें अन्ततः कमेटी सफल हुई।

१९५० ई० के लगभग आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज लखनऊ पधारे, यहीं चातुर्मास हुआ, तदनन्तर रत्नपुरी एवं अयोध्या की यात्रा उन्होंने की। रत्नपुरी में, १९५२ ई० में आचार्य महाराज भगवान् धर्मनाथ के चरणचिह्नों की पुनः प्रतिष्ठा कराई। उसी वर्ष अयोध्या में भारी धर्मोत्सव का आयोजन हुआ, मन्दिर, धर्मशाला तथा टोंकों का जीर्णोद्धार हुआ और कटरा की धर्मशाला में श्री १०८ देशभूषण दिगम्बर जैन गुरुकुल की स्थापना हुई। तीर्थक्षेत्र कमेटी रजिस्टर्ड करा ली गई, और क्षेत्र का कार्य बहुत कुछ व्यवस्थित चलने लगा। पुजारियों से मुकदमा चलता रहा, गुरुकुल भी ६–७ वर्ष ही चला, फिर समाप्त प्रायः हो गया नाममात्र को ही रह गया। सन् १९५४-५५ में सरयू नदी की भयंकर बाढ़ में राजघाट स्थित भगवान् अनन्तनाथ का मन्दिर धराशायी हो गया और उसके जीर्णोद्धार के प्रयत्न चालू हुए, जिसमें ७-८ वर्ष लग गये। दानवीर श्री साहू शान्तिप्रसाद जी ने भी इस हेतु दस हजार रुपये दिये, शेष अवध की समाज के योग और कमेटी के प्रयत्नों से पूरा हुआ।

आचार्य देशभूषण जी के मन में १९५२ में ही यह विचार स्फुरित हुआ कि अयोध्या में एक नवीन विशाल जिन मन्दिर का निर्माण हो और उसमें आदीश्वर भगवान् की एक विशालकाय खड्गासन प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाय। उनकी सतत प्रेरणा का यह परिणाम हुआ कि अवध के बाहर के, दिल्ली आदि के धर्मबन्धुओं की भी इस तीर्थक्षेत्र में दिलचस्पी बढ़ी, प्रचार होने लगा, और मुख्यतया दिल्ली के भाइयों को लेकर तदर्थ एक नवीन कमेटी

भी गठित हो गई। पुरानी कमेटी अपने ढंग पर चलती ही रही। अन्ततः अयोध्या के रायगंज मुहल्ले में स्थित एक चहार दीवारी बन्द विशाल रियासती उद्यान क्रय किया गया और उसमें एक भव्य उत्तुंग जिनालय का निर्माण हुआ तथा जयपुर में भगवान् आदिनाथ की ३०-३१ फुट ऊँची मनोज्ञ खड्गासन प्रतिमा निर्मा-पित कराकर यहाँ लाई गई। सन् १९६५ में एक विशाल जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव अयोध्या में आयोजित हुआ जिसमें उक्त प्रतिमा एवं आदिनाथ जिनालय की ससमारोह विधिवत् प्रतिष्ठा हुई। इस मंदिर एवं प्रतिमा के निर्माण तथा प्रतिष्ठा महोत्सव में प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत के जैन बन्धुओं का योग रहा। विशेष उल्लेखनीय योगदाता श्रावक शिरोमणि दानवीर साहू शान्ति-प्रसाद जैन, ला० पारसदास मोटर वाले दिल्ली, ला० जयनारायण जैन, श्री रामेश्वर जी अग्रवाल कलकत्ता, रायसाहिब उल्फतराय जैन प्रभृति सज्जन रहे।

कुछ ही समय उपरान्त अयोध्या तीर्थ की उपरोक्त दोनों कमे-टियाँ भी एक हो गईं। नवीन कमेटी के अध्यक्ष प्रारंभ से अपने स्वर्गवास (२७ अक्तूबर १९७७) पर्यन्त साहू शान्तिप्रसाद जैन रहे, और प्रधान मन्त्री राय साहिब उलफतराय दिल्ली निवासी रहते आये हैं।

इसी वर्ष श्री साहूजी की ही प्रेरणा से गठित अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महासमिति की उत्तर प्रदेशीय शाखा के साथ-ही-साथ एक उत्तरप्रदेश दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी गठित हुई है, जिसका उद्घाटन स्वयं साहू शान्तिप्रसाद जैन ने लखनऊ में तदर्थ आयोजित समारोह में दि० ९ अप्रैल १९७७ ई० को किया था। तदनन्तर उन्होंने कमेटी के प्रमुख सदस्यों के साथ बाराबंकी, रत्नपुरी, अयोध्या, श्रावस्ती, बहराइच आदि की यात्रा करके विशेषकर रत्नपुरी, अयोध्या एवं श्रावस्ती तीर्थों का निरीक्षण

किया और उनके विकास एवं आवश्यकताओं पर विचार विमर्श करके कमेटी के उद्‌देश्यों के कार्यान्वयन का ॐनमः भी कर दिया। इस कमेटी का मुख्य उद्‌देश्य उत्तर प्रदेश के सभी जैन तीर्थ क्षेत्रों का, उनकी स्थानीय कमेटियों के सहयोगपूर्वक संरक्षण, सुप्रबन्ध, विकास एवं उन्नति में सक्रिय रूप से सहायक होना है। अखिल भारतीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के साथ भी यह प्रादेशिक समिति तथा स्वयं अयोध्या दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी भी सम्बद्ध हैं।

इसी दिसम्बर १९७७ में श्री आदिनाथ जिनालय रायगंज अयोध्या में सेठ सुमेरचन्द पाटनी लखनऊ और ला० बंसीधर जैन बाराबंकी की ओर से दो नवीन वेदियाँ स्थापित हो रही हैं, तथा इस उपलक्ष्य में बिम्ब प्रतिष्ठा महोत्सव हो रहा है।

इस प्रकार, श्री अयोध्याजी तीर्थक्षेत्र की वर्तमान स्थिति प्रायः सन्तोषजनक है। विकास के लिए बहुत अवकाश है, और उपरोक्त कमेटियाँ इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।



परिच्छेद-९

अयोध्यातीर्थ पूजन एवं माहात्म्य

जिणजम्मण-णिक्खमणे-णाणुवत्तोए तित्थतिण्हेसु ।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ।।

ऋषभ अजित अभिनन्दन स्वामी,
सुमति अनंतनाथ भगवान ।
नगर अयोध्या मांहि लियो है,
गर्भ जन्म तप ज्ञान महान ।।
ऐसी पुण्य पवित्र धरा पर,
भरतेश औ श्रीराम पायो कल्याण ।
पंचपरम प्रभु सिद्ध मुनीश्वर,
थापहुं कर पूजूं इह थान ।।

ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे अत्रावतर अत्रावतर संवौषट् आह्वानम् ।
ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे अत्र तिष्ठ ठः ठः ठः स्थापनम् ।
ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे अत्र मम सन्निहितो भव भव बषट् सन्निधिकरणम् ।

प्रासुक पावनकर, शुद्ध सुनिर्मल जल झारी में भर लायो,
अति हर्षित होकर, जिनवर के पग प्रक्षालन कर सुख पायो ।
श्री ऋषभ अजित प्रभु सुमति जिनेशं,
जय अनंतनाथ जिनवर जी ।
बन्दौं अभिनन्दन कर्म नशानम्,
भक्ति सहित प्रणमूं प्रभु जी ।।

ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे जन्मजरामृत्यु विनाशाय जलं निर्वपामीति ।

मलयागिर लाकर चहुँदिशि सुखकर अति सुगंध जस महक रही,
लेकर शुभ चन्दन ौर आनन्दन प्रभु पद पूजत हर्ष मही।

श्री ऋषभ अजित प्रभु सुमति जिनेशं,
जय अनंतनाथ जिनवर जी।
बन्दौं अभिनन्दम् कर्म नशानम्,
भक्ति सहित प्रणमूं प्रभु जी॥

ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थ संसारतापविनाशाय चन्दनम्।

उत्तम तदुंल ले, इन्दु धवल से, मन मलीनता मिट जाए।
अक्षय पद पाऊं, कर्म नशाऊं, प्रभु जगबंधन कट जाए॥

श्री ऋषभ अजित प्रभु सुमति जिनेशं,
जय अनंतनाथ जिनवर जी।
बन्दौ अभिनंदन कर्म नशानम्,
भक्ति सहित प्रणमूं प्रभु जी॥

ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे अक्षय पद प्राप्तये अक्षतम्।

नानाविधि सुन्दर गन्ध सुवासित,
प्रासुक पावन पुष्प लिया।
कर भेंट सुहित धर काम विनाशन,
पुष्प सदृश हो जाय हिया॥

श्री ऋषभ अजित प्रभु सुमति जिनेशं,
जय अनंतनाथ जिनवर जी।
बन्दौं अभिनन्दम् कर्म नशानम्,
भक्ति सहित प्रणमूं प्रभु जी॥

ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे कामवाणविनाशाय पुष्पम्।

पकवान बनाकर हिय हर्षाकर भेंट करूं जिन चरणन में।
प्रभु अरज करूं, मम क्षुधा ताप हर, सद्भवित हो भावन में॥

श्री ऋषभ अजित प्रभु सुमति जिनेशं,
जय अनंतनाथ जिनवर जी।
बन्दौं अभिनंदन कर्म नशानम्,
भक्ति सहित प्रणमूं प्रभु जी॥

ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे क्षुधा रोग विनाशाय नैवेद्यम्।

कर्पूर जलाकर घृत दीपक भर अग्नि ज्योति तमहर सुखदा,
कर दीप समर्पण चाह यही क्षण, ज्योति, ज्ञान की पाऊं सदा।
श्री ऋषभ अजित प्रभु सुमति जिनेशं,
जय अनंतनाथ जिनवर जी।
बन्दौं अभिनंदम् कर्म नशानम्,
भक्ति सहित प्रणमूं प्रभु जी॥
ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे मोह-अंधकार विनाशाय दीपम्।
जस धूप जरत है, धूप उड़त है, प्रभु अर्चन से कर्म जरें।
प्रभु पातक जारों पुण्य प्रवारो; आतम मुक्ति को वरण करें॥
श्री ऋषभ अजित प्रभु सुमति जिनेशं,
जय अनंतनाथ जिनवर जी।
बन्दौं अभिनन्दम् कर्म नशानम्,
भक्ति सहित प्रणमूं प्रभु जी॥
ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे अष्टकर्म विनाशाय धूपम्।
बहु भांति लेय फल करत सुमंगल, हर्षित हो जिन चरण नमूँ।
भव बाधा मेटो कर्म समेटो पूज करूँ शिवपुर पाऊँ॥
श्री ऋषभ अजित प्रभु सुमति जिनेशं,
जय अनन्तनाथ जिनवर जी।
बन्दौं अभिनन्दम् कर्म नशानम्
भक्ति सहित प्रणमूँ प्रभु जी॥
ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे मोक्षफलप्राप्तये फलम्।
चन्दन अक्षत जल, पुष्प दीप फल, धूप खेय नैवेद्य धरूँ।
कर अर्घ्य समर्पण श्री जिन चरणन, फल अनर्घ्य पद प्रभु वरूँ॥
श्री ऋषभ अजित प्रभु सुमति जिनेशं,
जय अनन्तनाथ जिनवर जी।
बन्दौं अभिनन्दम् कर्म नशानम्,
भक्ति सहित प्रणमूं प्रभु जो॥
ॐ ह्रीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे अनर्घ्य पद प्राप्तये अर्घम्।

प्रत्येक टोंक के अर्घ्य

श्री ऋषभनाथ जी

जय जय जय प्रभु ऋषभ जिनेशं, गर्भ जन्म तप ज्ञान लिया,
कौशलपुर माँही प्रभु दर्शन से, धन्य धन्य हो जाय हिया।
नाभिराय मरूदेवि के नन्दन बन्दूं ऋषभनाथ भगवान्,
अष्ट द्रव्य प्रासुक पवित्र ले, पूज करूँ पाऊँ कल्याण॥

ॐ ह्रीं श्री अयोध्या तीर्थे गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान कल्याणक प्राप्ताय
श्री ऋषभ देवाय नमः अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घम्।

श्री अजितनाथ जी

अजित देव के चरण कमल में मेरा कोटि कोटि प्रणाम।
अर्घ चढ़ाऊँ जिनगुण गाऊँ प्रभु जी पाऊँ शिवपुर धाम॥

ॐ ह्रीं श्री अयोध्या तीर्थे गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान कल्याणक प्राप्ताय
श्री अजितनाथाय नमः अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घम्।

श्री अभिनन्दननाथ जी

करता अभिनन्दन प्रभु अभिनन्दन है मम वन्दन जिन स्वामी।
त्रिभुवन में बन्दन जन मन कन्दन जगहित कर्त्ता निष्कामी॥

ॐ ह्रीं श्री अयोध्या तीर्थे गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान कल्याणक प्राप्ताय
श्री अभिनन्दन नाथाय नमः अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घम्।

श्री सुमतिनाथजी

सुमति प्रदाता सुख के दाता पंचम तीर्थेश्वर शिव कर्त्ता,
करो अर्घ्य तुम ढिग स्वामी तुम हो दुःख कर्मों के हर्त्ता।

ॐ ह्रीं श्री अयोध्या तीर्थे गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान कल्याणक प्राप्ताय
श्री सुमतिनाथाय नमः अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घम्।

श्री अनन्तनाथ जी

सरयू तीरे आनन्द पूरे धन्य धन्य जिनवर भगवान।
जय अनन्तनाथ प्रभु मेरे काटो पाप कर्म बलवान॥
ॐ ह्रीं श्री अयोध्या तीर्थे गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान कल्याणक प्राप्ताय
श्री अनंतनाथ जिनाय नमः अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घंम्।

मुनिराज शीतल जी

जल चन्दन अक्षत चरु लेकर, पुष्प दीपकफल अर्घ बनाऊँ।
माथे मुनिवर शीतल जी के श्री चरणों की धूल चढ़ाऊँ॥
ॐ ह्रीं श्री शीतल मुनिराजाय समाधि क्षेत्रे श्री अयोध्या तीर्थे
अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घंम्।

तीर्थक्षेत्र का अर्घ्य

भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में, तीर्थ अयोध्या बना महान्,
आदि निधनता इस स्थल की, रही कहे आगम प्रमाण।
धन्य धर्म के आदि प्रवर्तक, षट् कर्मों के गुरू महान,
कौशलपुर में मरुदेवी के जन्में आदिनाथ भगवान॥
अजितनाथ, जिन अभिनंदन प्रभु सुमति अनंतनाथ श्रीमान्,
पाँच महातीर्थंकर जन्मे नगर अयोध्या मांही आन।
चार-चार कल्याणक धारे प्रभु ने गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान,
बन्दहु पावन पुण्य भूमि को पाप पलाय, मिटे अज्ञान॥
ॐ ह्री श्री अयोध्या तीर्थ क्षेत्रे नमः अनर्घ्य पद प्राप्तये अर्घंम्।

जयमाल

जयतीर्थ अयोध्या वर महान्,
है अनादि-निधन नगरी जहान।
यह आगम बात प्रमाण कही,
इस नगर अयोध्या की मही।

जन्मे, जनमेंगे तीर्थंकर,
सब यहीं सर्वहितंकर।
जय अषाढ़ कृष्ण द्वितीया महान,
प्रभु आदिदेव लिये गर्भ थान।
कृष्णा चैत्री नवमी सुखकार,
प्रभु जन्म लियो जग के हितकार।
इक्ष्वाकुवंश प्रभु सुवर्ण रूप,
है चिन्ह वृषभ आनन्द स्वरूप।
अपराह्ण चैत्र कृष्णा नवमी,
लेकर वैराग्य चले स्वामी।
फाल्गुन कृष्णा का पूर्वाह्ण,
एकादशि उपज्यो केवल ज्ञान।
जय माघ कृष्ण चौदश महान,
प्रभु मुक्त हुए कैलाश थान।
पुनि सागर कोड़ि पचास लाख,
पश्चात जन्म लियो अजितनाथ।
मां विजया पितु जितशत्रुसेन,
माघ शुक्ल दशमी जन्मे एन।
गज चिह्न जिनेश्वर स्वर्णरूप,
लख उल्कापात वन चले भूप।
अपराह्ण पौष शुक्ल चौदश दिन में,
जिन पाया केवल ज्ञानवन में।
तिथि चैत शुक्ल पंचम आई,
सम्मेद शिखर मुक्ती पाई।
जय सम्भव प्रभु के मुक्त गए,
अभिनन्दन जी कौशल आए।

षट्मास पूर्व से रत्न वृष्टि,
मघि द्वादस शुक्ला दिये दृष्टि।
पितु स्वयम्बर मां सिद्धार्था आज,
हर्षे मन में पा तेज ताज।
पुनि सुमति नाथ लियो जन्म आय,
देवो पुनीत सब तेज पाय।
पितु मेघरथ जय धन्य-धन्य,
मां मंगला सम है कौन अन्य।
पुनि भाग्य अयोध्या जग्यो जान,
जब जन्म अनन्तहि लियो आन।
द्वादस कृष्णा जेष्ठा अनूप,
प्रभु जन्म लियो घर सिंह भूप।
बाजे-बाजे नाना प्रकार,
जन देव करें सेवा अपार।
जय धन्य अयोध्या भूमि मांहि,
जहिं तीर्थेश्वर ले जनम जाहि।

ॐ ह्वीं श्री अयोध्या अनादि तीर्थे जयमाला महार्घम् निर्वपामीति स्वाहा।

अयोध्या माहात्म्य

मैं सर्व प्रथम आदीश्वर को, मन बचन काय से ध्याता हूँ।
चरणारविंद में गद्गद हो, श्रद्धा मे शीश झुकाता हूँ।
अभिराम अयोध्या नगरी में प्रभु जन्म आपने पाया है।
इस साधारण 'साकेता' को माटी से स्वर्ण बनाया है।
यह तीर्थंकर प्रसवा नगरी यश जैन धर्म का गाती है।
अगणित तीर्थंकर की जननी यह धर्म-भूमि कहलाती है।
इसके अवशेषों में दुर्लभ मकरन्द धर्म का बिखरा है।

यह युगारम्भ से महिमामय कौशलपुर की वसुन्धरा है।
श्री नाभिराय चौदहवें नृप मनु परम्परा के धारी थे।
प्राचीन अयोध्या नगरी के वैभव धारी अधिकारी थे।
इनकी भार्या मरुदेवी ने प्रिय ऋषभ देव सा सुत पाया।
तुमको पा नाभिनरेश सहित सारा भूमण्डल हरषाया।
अजित अभिनन्दन सुमतिनाथ औ चौदहवें अनन्त जिनवर।
ये इसी अयोध्या नगरी में जन्मे हैं पाँचों तीर्थंकर।
तप शूर बाहुबलि स्वामी ने अवतरण यहीं पर पाया है।
जिनके तप आचरण ने चक्री का गर्व हिलाया है।
शिव को जाने वाले पथ पर इन सबने यहीं प्रवेश किया।
संकट सागर से तिरने का जग को महान सन्देश दिया।
जो अरुणोदय भूमण्डल में अपने जिनमत ने देखा था।
वह विश्व विजय का स्वप्न चक्रेश भरत ने देखा था।
इस अतिशय पूर्ण धरातल की महिमा का पारावार नहीं।
इसका कैसे गुणगान करें शब्दावली का भण्डार नहीं।
इस जन्म क्षेत्र की पाँच भव्य टोंकें मन हरने वाली हैं।
मानों इसके अतीत की यह टोंकें करती रखवाली हैं।
सम्मेद शिखर जी के तदात्म्य इसका महात्म सुखकारी है।
यह अनुपम तीर्थंकर नगरी भक्तों को मंगलकारी है।
यह धर्मतीर्थ का रत्नाकर जो बाह्य रूप में गगरी है।
लोकोत्तर महा मानवों की गर्भस्थ अयोध्या नगरी है।
अब धर्म काल का परिवर्तन इस साकेता पर छाया है।
हुण्डावसर्पिणी के कारण इसमें शैथिल्य समाया है।
इस अवधपुरी में कई शेष प्राचीन भव्य जिन मन्दिर हैं।
इनकी मनोज्ञ प्रतिमाओं में तीर्थंकर श्री आदीश्वर हैं।
कटरा के मन्दिर का दर्शन मदिर प्रमोद भर देता है।
यह राजघाट का चित्रकूट स्वयमेव हृदय हर लेता है।
प्रतिबिम्ब ३१ फुट ऊँची यह पहिले तीर्थंकर की है।

यह परम वीतरागी मुद्रा वैराग्य भावना भरती है।
श्री शिवपुराण ऋग्वेद तथा ब्रह्माण्ड पुराण बताते हैं।
यह विविध नाम के आदि पुरुष श्री आदिनाथ कहलाते हैं।
प्राचीन श्रमण संस्कृति के तुम अध्यात्म स्रोत व्याख्याता हो।
वाणिज्य शिल्प कृषि असि मसिके तुम उपकारी जन्माता हो।
तनुजाएँ ब्राह्मी सुन्दरी दो इनको महान विज्ञान दिया।
इन योग्य पुत्रियों को पहला भाषा औ अक्षर ज्ञान दिया।
गार्हस्थ धर्म जग को देकर तुमने महान उपकार किया।
निर्वाह नियम गृह का विधान सीमाओं का आधार दिया।
तुम हो समदर्शी सिद्ध बुद्ध निस्सीम सम्पदा त्यागी हो।
तुम निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप शिवमन्दिर के अनुरागी हो।
ममता से और विषमता से किञ्चित् न तुम्हारा नाता है।
चरणों में आकर भक्त स्वयम् मन की साता पा जाता है।
साकेतपुरी-पति ऋषभदेव तुमको जो मन से ध्याते हैं।
इंद्रिय और कषायों पर जय पाकर भवसागरसे तिर जाते हैं।
यह मेरी अन्तिम विनय प्रभो करुणावतार स्वीकार करो।
जिस भाँति आप भवपार हुए जिनराज हमें भी पार करो।

—शशि

आरती

आरती आदि जिनंद तुम्हारी, नाभिकुमार कनक छवि धारी।
जुग की आदि प्रजा प्रतिपाली, सकल जनन की आरति टाली।
वांछा पूरन सबके स्वामी, प्रकट भए प्रभु अन्तरयामी।
कोटि भानु जनु आभा तनकी, चाहत चाहन है नहीं तनकी।
नाटक निरखि परमपद ध्यायो, राग थान बैराग्य उपायो॥
आदि जगतगुरु आदि विधाता, सुरग मुकति मारग के दाता।
दीन दयाल दया अब कीजै, 'भूधर' सेवक को ढिग लीजै॥

बधावा

आज आनन्द बधावो ॥

जन्म्यो आदीश्वर नाभि के भौन, कीनो सब इन्द्र मिलि मेरु पै न्हौन
ऐरावत शक्र चढ़यों गोद में किसोर, नाचत अपछरा सताइस कोर
आज आनन्द बधावो ॥
अजोध्या नगर सब घेरयो देवी देव, नरनारी अचरज देखें सब एव
'द्यानत मरुदेवा पद सची नाय, धन-धन जगमाता हमें सुखदाय
आज आनन्द बधावो ॥

वन्दना

आदिनाथ अरहंत, नाभिराजा कुल-मंडन ।
नगर अयोध्या जनम, सर्व मिथ्यामत खंडन ॥
केवल दर्शन शुद्ध, वृषभ लक्षन तन सोहैं ।
धनुष पाँच सौ देह, इन्द्र शत के मन मोहैं ॥
मरुदेवी मात नंदन सुजिन, तिहूँलोक तारन-तरन ।
मन भाव धरि इक चित्त सों, भव्य जीव बंदत चरन ॥

बालरूप वर्णन

जयौ नाभि भूपाल बाल सुकुमाल सुलच्छन ।
जयौ स्वर्ग पाताल पाल, गुनमाल प्रतच्छन ।
दृग विशाल कर भाल, लाल नख चरन विरज्जहिं ।
रूप रसाल मराल चाल, सुन्दर लखि लज्जहिं ।
रिपुजाल काल रिसहेश हम फँसे जन्म जम्बालदह ।
यातैं निकाल बेहाल अति, भो दयाल दुख टाल यह ॥

तप वर्णन

काउ-उसग्ग मुद्रा धरि बन में, ठाढ़े रिषभ रिद्धि तज दीनी ।
निहचल अंग मेरु हैं मानों, दोऊ भुजा छोरि निज दीनी ॥
फँसे अनन्त जन्तु-जग-चहले, दुखी देखि करुना चित लीनी ।
काढनकाज तिन्हें समरथ प्रभु, किधौं बाँह यह दीरघकीनी ॥

जन्माभिषेक

आज गिरिराज के शिखिर सुन्दर सखी,
होत है अतुल कौतुक महामन हरन।
नाभि के नन्द कौ जगत के चन्द कौ,
ले गए इन्द्र मिल जन्म मंगल करन।
नाचत सुर सुन्दरीं रहस रस सौं भरी,
गीत गावें भरी देहिं ताली करन।
देव दुंदुभि बजैं, बीन बंशी सजैं,
एक सी परत आनन्दघन की भरन।
इन्द्र हर्षित हिए नेत्र अंजुल किए,
तृपति होत न पिए रूप अमृत झरन।
दास 'भूधर' भनै, सुदिन देखै बनै,
कहि थकैं लोक लख जीभ न सकै वरन।

पद

आदि नरेश्वर आदि मुनेश्वर आदि जिनेश्वर आदिवतारी।
सागर कोर किरोर अठारह, आरज रीति कुरीति निवारी ॥
स्वर्ग विलास के मोख निवास के, राह चलाय कुराह निवारी।
'द्यानत' देव पशू नर को कहि, नारक में सुख कारक भारी ॥

पद

तुम आदिनाथ स्वामी, बन्दौं त्रिकालनामी।
तुम गुन अनंत भारी, हम तनक बुद्धि धारी ॥
थुति कौन भाँति गावैं, यह बुद्धि कहाँ पावैं।
तुम ही सहाय हू जौ, प्रभु सम न देव दूजो।
बानी सुमेघ बरसै, सुनि सरब जीव हरसैं।

जे गुन तुम्हारे ध्यावैं, पूजन करै करावैं।
जे नाम को भजे हैं, सब पाप को तजे हैं।
तुम कथा है बहुत-सी, मैं कही है तनक सी।
यह चूक बकस दीजौ, 'द्यानत' कौ याद कीजौ ॥

पद

भजि श्री आदिचरन मन मेरे, दूर होंहि भवभव दुख तेरे।
भगति बिना सुख रंच न होई, जो ढूंढै तिहुँ जग में कोई।
प्रान पयान समय दुख भारी, कण्ठ विषै कफ किअ अधिकारी।
तात मात सुत लोग घनेरा, ता दिन को न सहाई तेरा।
तुम बस चरन चरण तुझ माँही, एकमेक है दुविधा नाहीं।
तातै जीवन सफल कहावै, जनम जरामृत पास न आवै ॥
अबही औसर फिर जम घेरै, छारि लरक, बुध सद्गुरु टेरै।
'द्यानत' और जतन कोहुँ नाहीं, निर्भय होहु तिहूँ जग माँही ॥

पद

भव भय-भंजन आदि निरंजन, दूरि करौ दुख मेरा ॥
नाभिराय नंदन जग-वंदन, मैं चरनन को चेरा ॥
'द्यानत' ऊपर करुणा कीजै, दीजै सिवपुर डेरा ॥

पद

आप अमूरत हो चिन्मूरत, जोग अतीत जगोत्तमधामी।
यातैं नहीं पहुँचैं थुति आपलौं, पै सब जानत अन्तरजामी ॥
नौ विधि केवल धाम लिए तुम, हो मनवांछित दायक नामी।
मोपर पीर अपार विलोकि, द्रवों अब हे वृषभेश्वर स्वामी ॥
संकट पावक कुंड प्रचण्ड तैं, क्यों न निकासत हो जिन स्वामी।
पंचम काल कराल की चाल लगी, तुमहूँ कहँ क्या जगनामी ?
'दास' दुखी अवलोकत हो तब, काहे बिलम्ब करौ अभिरामी।
आरत भंजन नाम की ओर, निहार उधारहु अन्तरजामी ॥

पद

अवध जनम भयो आदि जिनन्द, नाभिराय कुलकैरव चन्द।
ठारह कोड़ा कोडि प्रमान, सागर लगभग मुकति पिछान।
सोमग प्रकट होय अब मीत, धरम सुधाधर उदित पुनीत।
रागदोष भ्रम मोहाताप, मिटिहैं सकल जगत सन्ताप।
कुमति कोकतिय शोकित होत, सुमति सतीउर हरष उदोत।
धरमभेद जुग शिव सुरदाय, तिहुँजग प्रभा रहै छबि छाय।
विभा न भाव विभाव किरात, ताहि न भावति चांद निरात।
भव दुख दमन औषधी नेह, प्रकट प्रबल सुख दायक तेह।
मुनि चकोर चहकहिं चहुं ओर, चितै चेत जनु, जलधर मोर।
भविक 'वृन्द' उर आनंद सिन्ध, निति प्रति बढ़त जैति जिन चंद।

जन्मोत्सव

जन्में अवधपुरी जिनराई। इन्द्र सभा में करत बड़ाई।
इन्द्रादिक को आसन कम्प्यो, लखि प्रभु जनम तुरति शिरनाई।
सजि समाज कौशल पुर आये, सची जाय जिन लीन उठाई॥
बालरूप सुरभूप निहारत, सहस नयन कर त्रिपति न पाई।
धरि निजगोद मोद मुद मंडित, ऐरावत चढ़ि सुरगिरी जाई॥
केइ शिर छत्र चमर केइ ढारत, केई विविध बधाई।
पांडुक बन पांडूक शिला के, सिंहासन पर प्रभु पधराई॥
क्षीरोदक ते न्हवन कियो हरि, गावत बाजत नाच रचाई।
करि सिंगार सची रचि रुचि सों, रचना कछु बरनि न जाई॥
करि नियोग पितु-सदन आनि के, मातु सौंपि बहु हरष उपाई।
प्रभु के दच्छिन कर अँगुष्ठ में, सुधा सुधापत थापत भाई॥
सोई पान करत नित जिनपति, त्रिपति होत त्रिभुवन कराई।
इष्टभोग उपभोग जोग सब, वृंदारक पति देत बनाई॥
बाल-विनोद निहारी जिनछवि, नित निज लोचन को फल पाई।
'देवीवृन्द' कहत कर जोरे, सोप्रभु मो पर होउ सहाई॥

विनती

जय श्री ऋषभ जिनन्दा, नाश करो स्वामी मेरे दुखदन्दा।
मातु मरुदेवी प्यारे, पिता नाभि के दुलारे।
वंश तो इक्ष्वाकु जैसे नभ बिच चन्दा॥
कनक वरन तन, मोहत भविक जन।
रवि शशि को लाजें मकरन्दा॥
दोष तौ अठारह नासे, गुन छयालीस भासे।
अष्ट कर्म काट स्वामी, भए निरफन्दा॥
चार ज्ञानधारी गनी, पार नहीं पावैं मुनि।
'दौलत' नमत सुख, चाहत अमन्दा॥

ध्यानारूढ़ प्रभु

देखो जी आदीश्वर स्वामी कैसा ध्यान लगाया है।
कर ऊपर कर सुभग विराजे, आसन थिर ठहराया है॥
जगत विभूति भूति सम तज कर, निजानन्द पद पाया है।
सुभिरत स्वासा आशा-वासा, नासा दृष्टि सुहाया है॥
कञ्चन वरन चले मन रञ्चन, सुरगिर ज्यों थिर थाया है।
जास पास अहि मोर मृगी हरि, जाति विरोध नशाया है॥
शुध उपयोग हुताशन में जिन, बसु विधि समिधि जलाया है।
श्यामल अलकावलि शिर सोहैं, मानो धुआँ उड़ाया है॥
जीवन मरण अलाभ लाभ जिन, तृण-मणि को सम भाया है।
सुर नर नाग नमहिं पद जाके, 'दौल' तास जस गाया है॥

स्तुति (राग कलिंगडा)

अब तो सखी दिन नीके आए, आदीश्वर लीनी अवतार।
सर्वारथ सिधि तैं चय आए, मरुदेवी माता उरधार॥
नाभि नृपति घर बजत बधाई, आज अयोध्या नगर मँझार।
सुखम दुखम मैं तीन बरस अरु, शेष रहे वसु मास अधार॥

अब तो जाग-जाग मोरी आली, हिलमिल गाओ मंगलचार ।
पुण्य उदय तै नरभव पायो, अरु पायो उत्तम कुलसार ।।
धर्म तीर्थंकरता गुरु पाए, अब कटिहैं सब कर्म विकार ।
स्वयंबुद्ध पूरण परमेश्वर, मोक्षपंथ दरशावन हार ।।
'नैनसुख' मन-वचन-कायकर, नमूँ-नमूँ बस अंग पसार ।



परिच्छेद—१०

अयोध्या-जिन स्तवन

श्री ऋषभजिन स्तवन—

ऋषभं मासमानानां सपत्नानां विषासहिं।
हंतारं शत्रुणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्॥

—ऋग्वेद, १०।२१।६६

ककर्दवे वृषभोयुक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥

—ऋग्वेद, १०।१०२।६

अंहो मुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण तमिन्द्रियं दत्त भोजः॥

—अथर्ववेद, १९।४२।४

ऋषभो वा पशूनामाधिपतिः।
ऋषभो वा पशूनां प्रजापतिः॥

—ताण्ड्य एवं शतपथ ब्राह्मण

ऋषभत्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः।

—महाभारत, १४।१८

नित्यानुभूत निजलाभ निवृत्ततृष्णः,
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मैः॥

—श्रीमद्भागवत ५।६।१९

मरुदेवी नाभेश्च भरते कुलसतमाः
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।
दर्शज्वमवीराणां सुरासुरनमस्कृतः
नीतित्रितयकर्त्तायो युगादौ प्रथमो जिनः ॥

—मनुस्मृति

इत्यं प्रभाव ऋषभोऽवतार शंकरस्य मे ।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवभः कार्थस्तवन् ॥

—शिवपुराण, ४।४७

अष्टषष्टितीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत् ।
तत्श्री आदिनाथ देवस्य स्मरणेनापि ॥ —स्कंद पु०

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं ।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

—धम्मपद (बौद्ध), ४२२

प्रजापतेः सुतो नाभितस्यापि आगमुच्यति ।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढ़व्रतः ॥
कपिल मुनिनाम ऋषिवरो निर्ग्रन्थ तीर्थङ्कर ऋषभनिर्ग्रन्थरूपि ॥

—आर्यमंजु श्री मूलकल्प (बौद्ध)

काऊण णमुक्कारं जिणवर वसहस्स वड्ढमाणस्स

—कुन्दकुन्दाचार्यः

णमह णवकमल कोमल मणहर वरवहल कन्ति सोहिल्लं ।
उसहस्स पायकमलं ससुरासुरवन्दियं सिरसां ॥

—विमलार्य, पउमचरिय

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले, समञ्जस-ज्ञान-विभूति-चक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः, क्षपाकरणेणेव गुणोत्करैः करैः ॥
प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥

विहाय यः सागर-वारि-वाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥
स्वदोषमूलं स्वसमाधि-तेजसा निनाय यो निर्दय भस्मसात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ॥
स विश्व-चक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां, समग्रविद्याऽऽत्म-वपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो, जिनोऽजित-क्षुल्लक-वादि-शासनः ॥

—स्वयंभूस्तोत्रे, स्वामिसमन्तभद्रः ।

भक्तामर प्रणत मौलिमणिप्रभाणा-
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥
यं संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥

—भक्तामरस्तोत्रे, मानतुङ्गः

जयत्यतिशयजिनैर्भासुरस्सुरवन्दितः ।
श्रीमाज्जिनपतिस्सृष्टेरादेः कर्त्ता दयोदयः ॥

—लक्ष्मेश्वर शिलालेख

तमादिदेवनाभेयवृषभं वृषभध्वजम् ।
प्रणौमि प्रणिपत्याहं प्रणिधाय मुहुर्मुहुः ॥
विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा चेत्यादिनामभिः ।
प्रजास्तं व्याहरन्ति स्म जगतां पतिमुच्युतम् ॥

इत्थंसुरासुरनरोरगयक्षसिद्धगन्धर्वचारणगणैस्समसिद्धबोधः ।
द्वात्रिंशदिन्द्रवृषभा वृषभाय तस्मै चक्रुर्नमः स्तुतिशतैर्नतमौलयस्ते ॥

—आदिपुराणे, स्वामि जिनसेनः

यो नाभेस्तनयोऽपि विश्वविदुषां पूज्यः स्वयंभूरिति,
त्यक्ताशेषपरिग्रहोऽपि सुधियां स्वामीति यः शब्यते ।
मध्यस्थोऽपि विनेयसत्त्वसमितेरेवोपकारी मतो,
निर्द्दानोऽपि बुधैरुपास्यचरणो यः सोऽस्तु वः शांतये ॥

—आचार्य गुणभद्रः

श्रीवृषं वृषभं वंदे वृषदं वृषभांकितम् ।
वृषभादिसमाश्लिष्टपादद्वितयपंकजम् ॥—शुभचन्द्रः

यौगा यं परमेश्वरं हि कपिलं सांख्या निजं योगिनो,
बौद्धा बुद्धमजं हरिं द्विजवरा जल्पन्त्युदीच्यां दिशि ।
निश्चीरं वृषलाञ्छनं ऋजुतनुं देवं जटाधारिणं,
निर्ग्रन्थं परमं तमाहुरमलं दिग्वाससां शासनम् ॥

—मदनकीर्तिः

असिमषिमुखा वृत्तिर्येन क्षितौ प्रकटीकृता,
भरतमहिपस्सम्राट् यस्यात्मजो भुवनोत्तरः ।
सुरपमुकुटीकोटी नीराजितांघ्रिसरोरुहः,
प्रथमजिनपः श्रेयो भूयो ददातु मुदा सदा ॥

असिमषिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्यवृत्तीः,
शिवपदपदवीमप्यन्ततो दर्शयित्वा ।
यस्य स्वयंभुवो नाभेर्ब्रह्मणो विरुदभवम्,
विश्वोत्पादलयध्रौव्यसाक्षी चास्तु शिवाय यः ॥

आकाशं मूर्त्यभावादघकुलदहनादग्निरूर्वीक्षमातो,
नैस्सर्ग्याद्वायुरापः प्रगुणतया स्वात्मनिष्ठः सुयज्वा ।
सोमः सौम्यत्वयोगाद्रविरिति च विदुस्तेजसां सन्निधाना-
द्विश्वात्मातीतविश्वः स भवतु भवतां भूतये भूतनाथः ॥

—विक्रान्तकौरवे, हस्तिमल्लः

श्रीमंतं त्रिजगन्नाथं वृषभं नृसुरार्च्चितम् ।
भवभीतिनिहंतारं वंदे नित्यं शिवाप्तये ॥

—ब्र० कामराजः

देवेन्द्रार्चितसत्पादपंकजं प्रणमाम्यहम् ।
आदीश्वरजगन्नाथं सृष्टिधर्म्मकरं भुवि ॥—केशवसेनः

श्रीमन्नाभिसुतो जीयाज्जिनो विजितदुर्नयः ।
मङ्गलार्थं न तो यस्तु सर्वदा मङ्गलप्रदः ॥—ज्ञानकीर्तिः

वंदे श्रीवृषभं देवं दिव्यलक्षणलक्षितम् ।
प्रणितप्राणिसद्वर्गं युगादिपुरुषोत्तमम् ॥

—सकलभूषणः

वृषभं वृषभं भान्तं वृषभांकं वृषोन्नतम् ।
जगत्सृष्टिविधातारं वंदे ब्रह्माणमादिमम् ॥

—पाण्डवपुराणे

नमो वृषभनाथाय लोकाऽलोकऽवलोकिने ।
मोहपङ्कविशोषाय भासिने जिनभानवे ॥— युगवीरः

आदि पुरुष आदीश जिन, आदि सुविधिकर्तार ।
धर्मधुरन्धर आदि गुरो, नमों आदि अवतार ॥

—हेमराज

आदिनाथ तारन तरनं ।
नाभिराय मरुदेव्या नंदन, जनम अयोध्या अघ–हरनं ॥
कलप वृक्ष गए, जुगुल दुखित भये, करम भूमि-विधि सुख करनं ।
अपछर नृत्य मृत्यु लख चेते, भव तन भोग, जोग धरनं ॥
कायोत्सर्ग धर्‍यो छमास दिढ़, वन खग-मृग पूजत चरनं ।
सब जन सुख दे शिवपुर पहुँचे, 'द्यानत' भव तुम पद सरनं ॥

नमामि नाभिनन्दनं भवादिव्याधिकन्दनं,
समाधिसाध चंदनं शर्तिदवृंद वंदितं ।

अशेष क्लेशभंजनं मदादिदोषगंजनं,
मुनिंदकंजरंजनं दिनं जिनं अमंदितं।
अनंत कर्म छायकं प्रशस्त शर्मदायकं,
नमामि सर्वलायकं विनायकं सुछंदितं।
समस्त विघ्न नाशिए प्रमोद को प्रकाशिए,
निहार मोहि दास ये प्रभू करो अफंदितं।

श्री अजितजिन-स्तवन—

यस्य प्रभावात् त्रिदिव-च्युतस्य क्रीडास्वपि क्षीबमुखारविन्दः।
अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार नामाऽजित इत्यबन्ध्यम्॥
स ब्रह्मनिष्ठः सम - मित्र - शत्रु - विद्या- विनिर्वान्ति-कषाय-दोषः।
लब्धात्मलक्ष्मीर्-अजितोऽजितात्मा जिन-श्रियं मे भगवान् विधत्ताम्॥
समन्तभद्रः

श्रीमान् जिनोऽजितो जीयाद् यद्वचांस्यमलान्यलम्।
क्षालयन्ति जलानीव विनेयानां मनोमलम्॥
विमलवाहनमाहवदुर्द्धरं दुरितदूर तपश्चरणोद्यतम्।
सुखनिधिं विजये सुरसत्तमं नमत भक्तिभरात् अजितं जिनम्॥
—गुणभद्रः

इन्द्रादिभिः क्षीरसमुद्र-तोयैः संस्नापितो मेरुगिरौ जिनेन्द्रः।
यः कामजेता जन-सौख्यकारी तं शुद्धभावात्- अजितं नमामि॥
—लघुस्वयंभू

इन्द्र छीर सागर जल लाय, मेरु न्हवाये गाय बजाय।
मदनविनाशक सुखकरतार, बंदौं अजित अजितपदकार॥
—द्यानत

श्री अभिनन्दन जिनस्तवन—

गुणाऽभिनन्दात् अभिनन्दनो भवान्दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत्।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चाऽयुजत्॥

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत् तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः ।
इति प्रभो ! लोकहितं यतो मतं ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥
—समन्तभद्रः

अर्थे सत्ये वचः सत्यं सद्वक्तुर्वक्ति सत्यताम् ।
यस्यासौ पातु वन्दारून्नन्दयन्नभिनन्दनः ॥

यो रत्नसंचयपुरेशमहाबलाख्यो, योऽनुत्तरेषु विजयी विजयेऽहमिन्द्रः ।
यश्चाभिनन्दननृपो वृषभेशवंशे साकेतपत्तनपतिः स जिनोऽवताद्वः ॥
—गुणभद्रः

स्वप्ने यदीया जननी क्षपायां गजादिवह्न्यन्तमिदं ददर्श ।
यत्तात इत्याह गुरुः परोऽयं नौमि प्रमोदादभिनन्दनं तम् ॥
—लघुस्वयंभू

माता पच्छिम रयन मंझार, सुपने सोलह देखे सार ।
भूप पूछि फल सुनि हरषाय, बंदौ अभिनन्दन मन लाय ॥
—द्यानत

श्रीसुमतिजिनस्तवन—

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्ति-नीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्व-क्रिया-कारक-तत्त्वसिद्धिः ॥
विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ विवक्षया मुख्य-गुण-व्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥
—समन्तभद्रः

लक्ष्मीरनश्वरी तेषां येषां तस्य मते मतिः ।
देयादादेयवाक् सद्भिः सोऽस्मभ्यं सुमतिर्मतिम् ॥
रिपुनृपयमदण्डः पुण्डरीकिण्यधीशो,
हरिरिव रतिषेणो वैजयन्तेऽहमिन्द्रः ।

सुमतिरमितलक्ष्मीस्तीर्थकृद्यः कृतार्थः
सकलगुणसमृद्धो वः स सिद्धिं विदध्यात् ॥

—गुणभद्रः

कुवादिवादं जयता महान्तं नय-प्रमाणैर्वचनैर्जगत्सु ।
जैनं मतं विस्तरितं च येन तं देव-देवं सुमतिं नमामि ॥

—लघुस्वयम्भू

सब कुवादवादी सरदार जीते स्याद्वाद-धुनि धार ।
जैनधरम प्रकाशक स्वाम, सुमतिदेवपद करहुं प्रनाम ॥

—द्यानत

श्री अनन्तजिनस्तवन—

अनन्त-दोषाऽऽशय-विग्रहो ग्रहो, विषङ्गवान्मोह-मयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलाप-लेशोऽल्पमतेर्महामुने ।
अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ॥

—समन्तभद्रः

अनन्तोऽनन्तदोषाणां हन्ताऽनन्तगुणाकरः ।
हन्त्वन्तध्वान्तसंतानमन्तातीतं जिनः स नः ॥

कुनयघनतमोऽन्धं कुश्रुतोलूकविद्विट्,
सुनयमयमयूखैः विश्वमाशु प्रकाश्य ।
प्रकटपरमदीप्तिर्बोधयन् भव्यपद्मान्
प्रदहतु स जिनेनोऽनन्तजिद् दुष्कृतं वः ॥

—गुणभद्रः

आभ्यन्तरं वाह्यमनेकधा यः परिग्रहं सर्वमपाचकार ।
यो मार्गमुद्दिश्य हितं जनानां वन्दे जिनं तं प्रणमामि अनन्तम् ॥

—लघुस्वयम्भू

अंतर बाहिर परिगह डारि, परम दिगम्वरव्रतको धारि ।
सर्व जीवहित-राह दिखाय, नमों अनन्त वचन मन लाय ।।

—द्यानत

श्री भरतेश्वर-स्तवन—

प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा ।
तयाह्वद् भरतं भावि समस्तभरताधिपम् ।।
तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति हासीज्जनास्पदम् ।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ।।

—आदिपुराणे, ५५।१५८-१५९, जिनसेनः

तस्य (वृषभस्य) आसीत् ब्रह्मपारगं सुतशतम्—

तेषां वै भरतो ज्येष्ठः नारायणपरायणः ।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नामा भारतमद्भुतम् ।।

—श्रीमद्भागवत

ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमस्थितः ।।
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तं भारतवर्षं तस्य नाम्ना महान्मनः ।।

—मार्कण्डेय पुराण

नाभितः ऋषभो मरुदेव्यां च, वृषभात् भरतोऽभवत् । —अग्निपुराण

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः, ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्नात्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ।।

—विष्णुपुराण, द्वितीयांश

—वाराह, वायु, ब्रह्माड, लिङ्ग, गरुड, शिव तथा स्कंदपुराण आदि अन्य ।

ब्राह्मणीय पुराणों में भी इस महादेश को 'भारतवर्ष' नाम प्रदान करने वाले आदितीर्थङ्कर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र, अयोध्या

नरेश इन भरत चक्रवर्ती का प्रायः ऐसा ही स्तवन प्राप्त होता है।

श्रीबाहुबली-स्तवन—

जयति भुजबलीशो बाहुवीर्यं स यस्य
प्रथितमभवदग्रे क्षत्रियाणां नियुद्धे।
भरतनृपतिनामा यस्य नामाक्षराणि
स्मृतिपथमुपयान्ति प्राणिवृन्दं पुनन्ति ॥
जयति भरतराजः प्रांशु मौल्यग्ररत्नो-
पललुलितनखेन्दुः स्रष्टुराद्यस्य सूनुः।
भुजगकुलकलापैराकुलैर्नाकुलत्वं
धृतिबलकलितो यो योगभृन्नैव भेजे ॥
—आदिपुराणे, जिनसेनः

श्रीराम-स्तवन—

व्यपगतभवहेतुं तं योगधरं शुद्धभावहृदयधरं वीरम्।
अनगारवरं भक्त्या प्रणमत रामं मनोऽभिराम शिरसा ॥
तमनेकशीलगुणशतसहस्रधरमतिशुद्धकीर्तिमुदारम् ।
ज्ञानप्रदीपममलं प्रणमत रामं त्रिलोकनिर्गतयशसम्।
निर्दग्धकर्मपटलं गम्भीरगुणार्णवं विमुक्तक्षोभम्।
मन्दरशिवनिष्कम्पं प्रणमत रामं यथोक्तचरितश्रमणम् ॥
यद्वा निहितं हृदये साधु तदाप्नोति रामकीर्त्तनासक्तः।
इष्टं करोति भक्तिः सुदृढा सर्वज्ञभावगोचरनिरता ॥
चेष्टितमनघं चरितं करणं चारित्रमित्यमी यच्छब्दाः।
पर्याया रामायणमित्युक्तं तेन चेष्टितं रामस्य ॥
—पद्मपुराणे, रविषेणः

श्रीशैल महामुनि (मारुति हनुमान)-स्तवन—

धरणीधरैः प्रहृष्टैरुपगीतो वन्दितोऽप्सरोभिश्च।
अमलं समयविधानं सर्वज्ञोक्तं समाचर्य ॥

निर्दग्धमोहनिचयो जैनेन्द्रं प्राप्य पुष्कलं ज्ञानविधिम् ।
निर्वाणगिरावसिधच्छ्रीशैलः श्रमणसत्तमः पुरुषरविः ॥

—पद्मपुराणे, रविषेणः

महामुनि भरत (दाशरथी) स्तवन—

भरतोऽपि महातेजा महाव्रतधरो विभुः ।
धराधरगुरुस्त्यक्तबाह्यान्तरपरिग्रहः ॥
व्युत्सृष्टाङ्गो महाधीरस्तिष्ठन्नस्तमिते रवौ ।
विजहार यथान्यायं चतुराराधनोद्यतः ॥
अविरुद्धो यथा वायुर्मृगेन्द्र इव निर्भयः ।
अकूपार इवाक्षोभ्यो निष्कम्पो मन्दरो यथा ॥
जातरूपधरः सत्यकवचः क्षान्तिसायकः ।
परीषहजयोद्युक्तस्तपःसंयत्यवर्तत ॥

—पद्मचरिते रविषेणः

परिच्छेद-११

दिगम्बरत्व

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्म-निर्मूलनक्षमः ॥ —भर्तृहरिः

जैन मान्यता के अनुसार धर्म साधन के दो उद्देश्य, अतः दो फल होते हैं—अभ्युदय और निःश्रेयस ।

लौकिक सुखसाता, समृद्धि एवं उत्कर्ष को अभ्युदय कहते हैं, और पारमार्थिक हित साधन, आत्म-कल्याण, मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति को निःश्रेयस कहते हैं। दान-पूजादि शुभोपयोग रूप पुण्यानुबंधी क्रियाओं के करने से मनुष्य को लौकिक अभ्युदय प्राप्त होता है, और समस्त परिग्रह का त्याग करके तपश्चरणरूप एक-निष्ठ आत्मसाधन करने से कर्मबन्धन से मुक्ति, अर्थात् मोक्षरूप निःश्रेयस फल प्राप्त होता है।

इसी कारण जैनधर्म में साधकों के भी दो वर्ग हैं—श्रावक और साधु। श्रावक-श्राविका सागार, संसारी गृहस्थ स्त्री-पुरुष होते हैं, जो अपना-अपना लौकिक जीवन जीते हैं, मूल एषणाओं एवं संज्ञाओं से सहज प्रेरित होकर जीवन की आवश्यकताओं एवं सुख-सुविधाओं के जुटाने में, उनके उत्पादन, अर्जन, वितरण आदि रूप अर्थ पुरुषार्थ, और उनके भोगोपभोग रूप काम पुरुषार्थ के सम्पादन में ही प्रायः निमग्न रहते हैं। उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे अर्थ और काम पुरुषार्थों के साथ धर्म पुरुषार्थ का भी सम्यक् संयोजन रक्खें, अर्थात् अपनी पूरी सामर्थ्य एवं मनोयोग से अर्थ का उत्पादन-उपार्जन करें, किन्तु धर्मतः न्यायतः करें।

इसी प्रकार न्यायोपार्जित साधनों का खुलकर भोगोपभोग करें, किन्तु धर्मतः न्यायतः ही करें, संयम एवं मर्यादाओं की अवहेलना करके न करें। किसी के साथ अन्याय न करें, किसी का शोषण न करें, सबके साथ भद्रोचित व्यवहार करें, सदाचरणनिष्ठ हों और एक श्रेष्ठ नागरिक के रूप में पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना के साथ गृहस्थ जीवन यापन करें। वह श्रावक के अष्ट मूलगुणों का पालन करें, कषाय मन्द रक्खें और देवपूजा-गुरूपास्ति-स्वाध्याय-संयम-तप-दानरूप दैनिक षट्कर्मों का भी यथाशक्ति सम्पादन करने में उपयोग लगायें। उससे व्यवहार सम्यग्दर्शन के स्वरूप एवं पालन में रुचि होगी और फिर वह गृहस्थ साधक श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण करके आंशिक या देश संयम के पथ पर आरूढ़ होगा। जैसे-जैसे उसकी संसार-देह-भोगों में विरक्ति बढ़ती जाय वह श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं (दर्जों) में शनैः शनैः चढ़ता है। सातवीं प्रतिमा में पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेता है, ८वीं में समस्त आरंभ त्याग देता है, ९वीं में गृहस्थ के मामलों में हस्तक्षेप करना या राय देना भी छोड़ देता है, और १०वीं में समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है, घर में ही रहता हुआ आत्म-साधन करता है। तदनन्तर ११वीं प्रतिमा में वह गृहत्यागी हो जाता है और मात्र दो वस्त्र रखने वाला क्षुल्लक बन जाता है। त्याग और संयम की भावना और बढ़ती है तो मात्र कौपीनधारी ऐलक हो जाता है। उस उत्कृष्ट श्रावक की समस्त क्रियायें एवं चर्या प्रायः मुनिवत् होती हैं।

जैनधर्म में साधक का दूसरा वर्ग साधु का है जो पूर्णतया साधक होता है। सर्वसंग-त्यागी महाव्रती निर्ग्रन्थ श्रमण तपस्वी मुनि या साधु ही मोक्षमार्ग का एकनिष्ठ साधक होता है। अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह नामक पाँच महाव्रतों, ईर्या-भाषा-एषणा-आदान निक्षेपण प्रतिष्ठापन नामक पाँच समितियों,

पंचेन्द्रिय संयम, षट् आवश्यकों और अन्य ७ गुण—कामोत्सर्ग, क्षितिशयन, अस्नान, दाँत न माँजना, एक स्थान में ही खड़े रह कर भोजन करना, केश लौंच और नग्नत्व (अचेलकत्व या दिगम्बरत्व) हैं, सब मिलाकर जैन मुनि के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं* जिनका वह निरतिचार पालन करता है। वह बस्ती में नहीं रहता, निर्जन स्थान में रहता है, ४-५ दिन से अधिक किसी एक स्थान में भी नहीं रहता, सिवाय वर्षावास के चार महीनों के, और दिन में केवल एक बार भिक्षा द्वारा प्राप्त योग्य अन्न-जल-दाता के स्थान में ही खड़े-खड़े हाथ में लेकर आहार कर लेता है। उसका शेष समय ध्यानाध्ययन में या अवसर हुआ तो गृहस्थों को धर्मोपदेश देने में भी व्यतीत होता है। मात्र पिच्छिका एवं कमंडलु के अतिरिक्त उसके पास कोई भी परिग्रह नहीं होता—ये भी चर्या में आवश्यक शौचोपकरणों के रूप में ही होते हैं। ऐसा ज्ञान-ध्यान-तपलीन उत्कृष्ट योगी ही जैन साधु या मुनि होता है। वह समत्व का साधक एवं वीतराग होता है। आत्मसाधना की इस चरम अवस्था के लिये दिगम्बरत्व अनिवार्यतः आवश्यक है।

अतएव भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य का उद्घोष है कि "जिनशासन में तो वस्त्रधारी सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त नहीं कर सकता, भले ही वह स्वयं तीर्थंकर ही क्यों न हो। नग्नत्व (दिगम्बरत्व) ही मोक्षमार्ग है शेष सर्व (साधुवेष) उन्मार्ग है।"

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होई तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥

---

* पंचय महव्वयाहं समिदीओ पंच जिणवरोदिट्ठा।
पंचेंविदियरोहा छप्पिय आवसिया लोचो॥
अच्चेलकम्मण्हाणं खिदिसयणमदंतघस्सणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा॥ —मूलाचार

"मुनि के लिये अचेलक (नग्न-दिगम्बर) रहने और स्वयं अपने हाथों का ही भोजनपात्र के रूप में उपयोग करने का जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है। यही एकमात्र मोक्षमार्ग है, शेष सब मार्ग अमार्ग हैं।"

णिच्चेल-पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसाय अमग्गया सव्वे॥

"साधु के बालाग्र जितने परिग्रह का भी ग्रहण नहीं होता और वह दिन में एक ही बार, एक ही स्थान में खड़े-खड़े, पाणिपात्र में दिया गया योग्य आहार लेता है।"

बालग्गकोडिमत्तं परिग्गहगहणं ण होइ साहूणं।
भुँजेई पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि॥

"वह यथाजातरूप-दिगम्बर मुनि अपने शिर एवं मुख के केशों का अपने हाथ से उत्पाटन करता है, उसका वेष या रूप शुद्ध होता है, हिंसादिरहित, शृंगाररहित, ममत्व एवं प्रारम्भ रहित, उपयोग एवं योग की शुद्धि सहित; परद्रव्य की अपेक्षा रहित होता है और अपुनर्भव (मोक्ष) का कारण होता है।"

जधजादरूवजादं उप्पाडिद केसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोग जोग सुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भव कारणं जो एहं॥

"वह यथाजात रूप-जन्मते बालक जैसी दिगम्बर मुद्रा का धारी-मुनि तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं रखता, यदि वह कुछ भी परिग्रह ग्रहण कर लेता है तो निगोद में जाता है"—

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाई णिग्गोदं॥

इतना ही नहीं, उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि 'भावेण होई णग्गो, किं णग्गेण भावरहियेण ? अर्थात् मात्र बाह्य में, शरीर को दिगम्बर बना लेना पर्याप्त नहीं है, भावों में, अपने अन्तर में नग्नता आनी चाहिये। यदि भावशुद्धि न हुई, अन्तरंग में दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठापना नहीं हुई तो बाह्य दिगम्बरत्व की कोई सार्थकता या उपादेयता नहीं है। तथा 'असंजदं ण वंदे, गंथविहीणो वि सो ण वंदिज्जं' अर्थात् अन्तरंग में जो असंयमो है वह बाह्य में सर्व-परिग्रहरहित भी हो तो भी वह वन्दनीय नहीं है। बल्कि जो मात्र बाह्य में शरीर से ही नंगा है वह दुःख ही पाता है, संसार सागर में भटकता रहता है, उसे बोधि (विज्ञान दृष्टि) प्राप्त नहीं हो पाती, क्योंकि वह जितेन्द्रियता की भावना से दूर है—अपने अन्तरंग या भाव परिणमन में वह दिगम्बर नहीं है।'

णग्गो पाइव दुक्खं णग्गो संसारसागरे भमई।
णग्गो न लहइ बोहिं, जिण भावणजिओ सुदूरं॥
(भावपाहुड, गा० ६८)

इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिये साधक की चरम अवस्था में दिगम्बरत्व अनिवार्य है, किन्तु वह अन्तरंग एवं बाह्य दोनों ही प्रकार का युगपत् होना चाहिये, तभी उसकी सार्थकता है। मार्ग दुर्गम और दुस्साध्य है। यही कारण है कि लगभग चालीस लाख जैनों में सौ सवा सौ ही दिगम्बर मुनि हैं। उनमें से भी कितने वास्तविक दिगम्बरत्व के साधक हैं और सभी २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन करते हैं, यह कहना कठिन है। तथापि इसमें भी सन्देह नहीं है कि एक औसत दिगम्बर मुनि अपनी अत्यन्त कठोर चर्या, व्रत, नियम, संयम, तथा शीत-उष्ण-दंश-मशक-नाग्न्य- लज्जा आदि २२ परीग्रहों को जीतने एवं नाना प्रकार के उपसर्गों को सहन करने में सक्षम होता है। उसका जीवन एक खुली पुस्तक होता है। ज्ञान की उसमें कमी या अल्पाधिक्य हो

सात क है, संस्कारों या परिस्थितिजन्य दोष भी लक्ष्य किये जा सकते हैं, अथवा दिगम्बर मुनि के आदर्श की कसौटी पर भी वह भले ही पूरा-पक्का न उतर पावे, तथापि अन्य परम्पराओं के साधुओं की अपेक्षा अपने नियम संयम, तप एवं कष्टसहिष्णुता में वह श्रेष्ठतर ही ठहरता है। जो आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ करते हैं उन मुनिराजों की बात ही क्या है, वे सच्चे साधु या सच्चे गुरु ही आचार्य–उपाध्याय–साधु के रूप में पंच परमेष्ठी में परिगणित हैं, वे मोक्षमार्ग के पूजनीय एवं अनुकरणीय मार्गदर्शक होते हैं। वे तरणतारण होते हैं। उन्हीं के लिए कहा गया है कि—

'धन्यास्ते मानवा मन्ये ये लोके विषयाकुले।
विचरन्ति गतग्रन्थाश्चतुरंगे निराकुलाः'॥

इस दिगम्बर मार्ग के प्रवर्तक प्रथम तीर्थङ्कर आदिदेव ऋषभ थे। जिनदीक्षा लेने के उपरान्त उन्होंने दिगम्बर मुनि के रूप में तपश्चरण करके केवलज्ञान एवं तीर्थङ्कर पद प्राप्त किया था। उनके भरत, बाहुबलि आदि अनेक सुपुत्रों और अनगिनत अनुयायियों ने इसी दिगम्बर मार्ग का अवलम्बन लेकर आत्म-कल्याण किया है। भगवान् ऋषभ के समय से लेकर आज पर्यन्त यह दिगम्बर मुनि परम्परा अविच्छिन्न चली आई है। बीच-बीच में मार्ग में काल दोष से विकार भी उत्पन्न हुए, चारित्रिक शैथिल्य भी आया, किन्तु संशोधन परिमार्जन भी होते रहे, और मार्ग बना रहा।

जैन परम्परा का स्वयं वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी जो जैन साधु के लिये दिगम्बरत्व को अपरिहार्य नहीं मानता और साधुओं को सीमित संख्यक, बिना सिले श्वेत वस्त्र धारण करने की अनुमति देता है, इस तथ्य को मान्य करता है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव एवं अन्तिम तीर्थङ्कर वर्द्धमान महावीर अपने मुनि जीवन में अचेलक अथवा दिगम्बर ही रहे थे, अनेक अन्य पुरातन जैनमुनि

दिगम्बर रहे, तथा यह कि जिनमार्ग में जिनकल्पी साधुओं का श्रेष्ठ एवं श्लाघनीय रूप अचेलक है। कला के क्षेत्र में भी ८ वीं-९ वीं शती ई० से पूर्व की प्रायः सभी उपलब्ध तीर्थङ्कर या जिन-प्रतिमाएँ दिगम्बर ही हैं और वे उभयसम्प्रदायों के, अनुयायियों द्वारा समानरूप से पूजनीय रहीं, आज भी हैं। कालान्तर में साम्प्रदायिक भेद के लिये श्वेताम्बर साधु जिनमूर्तियों में भी लंगोट का चिन्ह बनवाने लगे—मुकुट, हार, कुंडल, चोली-आंगी, कृत्रिम नेत्र आदि का प्रचलन तो इधर लगभग दो-अढाई सौ वर्ष के भीतर ही हुआ है।

जैन परम्परा में ही नहीं, अन्य धार्मिक परम्पराओं में भी श्रेष्ठतम साधकों के लिये दिगम्बरत्व की ही प्रतिष्ठा की गई प्राप्त होती है। प्रागैतिहासिक एवं प्राग्वैदिक सिन्धु घाटी सभ्यता के मोहनजोदड़ों से प्राप्त अवशेषों में कायोत्सर्ग दिगम्बर योगियों के अंकन से युक्त मृण्मुद्राएँ मिली हैं और हड़प्पा में एक दिगम्बर योगिमूर्ति का धड़ मिला है। स्वयं ऋग्वेद में वातरशनाः (दिगम्बर) मुनियों का उल्लेख हुआ है। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक में उक्त वातरशना मुनियों को श्रमणधर्मा एवं ऊर्ध्वरेतस (ब्रह्मचर्य से युक्त) बताया है। श्रीमद्भागवत में भी वातरशना मुनियों के उल्लेख हैं तथा वहाँ एवं अन्य अनेक ब्राह्मणीय पुराणों में नाभेय ऋषभ को विष्णु का एक प्रारंभिक अवतार सूचित करते हुए उन्हें दिगम्बर ही चित्रित किया गया है। ऐसे उल्लेखों पर से स्व० डॉ० मंगलदेव शास्त्री का अभिमत है कि वातरशना श्रमण एक प्राग्वैदिक मुनि परम्परा थी और वैदिक धारा पर उसका प्रभाव स्पष्ट है। कई उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों, रामायण, महाभारत आदि अनेक ब्राह्मणीय धर्मग्रन्थों, बृहत्संहिता, भर्तृहरि-शतक तथा क्लासिकल संस्कृत साहित्य में भी दिगम्बर मुनियों के उल्लेख एवं दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। ब्राह्मण

परम्परा में ६ प्रकार के संन्यासियों का विधान है जिनमें तुरीयातीत श्रेणी के संन्यासी दिगम्बर ही रहते थे। जड़भरत, शुकदेवमुनि आदि कई दृष्टान्त भी उपलब्ध हैं। परमहंस श्रेणी के साधु भी प्रायः दिगम्बर रहते हैं। मध्यकालीन साधु अखाड़ों में भी एक अखाड़ा 'दिगम्बरी' नाम से प्रसिद्ध है। पिछले शती के वाराणसी निवासी महात्मा तैलंग स्वामी नामक सिद्ध योगी, जो रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे प्रबुद्ध संतों एवं सुधारकों द्वारा भी पूजित हुए, सर्वथा दिगम्बर रहते थे। बौद्ध भिक्षुओं के लिये नग्नता का विधान नहीं है, किन्तु स्वयं गौतमबुद्ध ने अपने साधनाकाल में कुछ समय तक दिगम्बर मुनि के रूप में तपस्या की थी। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों में भी सहज नग्नत्व को निर्दोषता का सूचक एवं श्लाघनीय माना। जलालुद्दीन रूमी, अलमन्सूर, सरमद जैसे सूफी सन्तों ने दिगम्बरत्व की सराहना की—सरमद तो सदा नंगे रहते ही थे। उनकी दृष्टि में तो 'तने उरियानी (दिगम्बरत्व) से बेहतर नहीं कोई लिबास—यह वह लिबास है जिसका न उल्टा है न सीधा' सरमद का कौल था कि 'पोशानीद लबास हरकारा ऐबदीद, बे ऐबारा लबास अयानीदाद'—पोशाक तो मनुष्य के ऐबों को छिपाने के लिए है, जो बेऐब-निष्पाप हैं उनका परिधान तो नग्नत्व ही होता है। नन्द-मौर्य कालीन यूनानियों ने भारत के दिगम्बर मुनियों (जिम्नोसोफिस्ट) के वर्णन किये हैं, युवान च्वांग आदि चीनी यात्रियों ने भी भारत के विभिन्न स्थानों में विद्यमान दिगम्बर (लि-हि) साधुओं या निर्ग्रन्थों का उल्लेख किया है। सुलेमान आदि अरब सौदागरों और मध्यकालीन युरोपीय पर्यटकों में से कई ने उनका संकेत किया है। डॉ० ज़िम्मर जैसे मनीषियों का मत है कि प्राचीन काल में जैन मुनि सर्वथा दिगम्बर ही रहते थे।

वास्तव में दिगम्बरत्व तो स्वाभाविक निर्दोषता का सूचक है।

महाकवि मिल्टन ने अपने काव्य 'पैरेडाइज लास्ट' में कहा है कि आदम और हव्वा जब तक सरलतम एवं सर्वथा सहज निष्पाप थे, स्वर्गीय नन्दनकानन में सुख पूर्वक विचरते थे, किन्तु जैसे ही उनके मन विकारी हुए उन्हें उस दिव्यलोक से निष्कासित कर दिया गया। विकारों को छिपाने के लिये ही उनमें लज्जा का उदय हुआ और परिधान (कपड़ों) की उन्हें आवश्यकता पड़ी। महात्मा गाँधी ने एक बार कहा था "स्वयं मुझे नग्नावस्था प्रिय है, यदि निर्जन वन में रहता होऊँ तो मैं नग्न अवस्था में ही रहूँ।" काका कालेलकर ने क्या ही ठीक कहा है, "पुष्प नग्न रहते हैं। प्रकृति के साथ जिन्होंने एकता नहीं खोई है ऐसे बालक भी नग्न घूमते हैं। उनको इसकी शरम नहीं आती है और उनकी निर्व्याजता के कारण हमें भी लज्जा जैसा कुछ प्रतीत नहीं होता। लज्जा की बात जानें दें इसमें किसी प्रकार का अश्लील, वीभत्स, जुगुप्सित, विर्श्रा, अरोचक हमें लगा है, ऐसा किसी भी मनुष्य का अनुभव नहीं। कारण यही है कि नग्नता प्राकृतिक स्थिति के साथ स्वभाव शुदा है। मनुष्य ने विकृत ध्यान करके अपने विकारों को इतना अधिक बढ़ाया है और उन्हें उलटे रास्ते को ओर प्रवृत किया है कि स्वभाव सुन्दर नग्नता उसे सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं, पर अपने कृत्रिम जीवन का है।"

वस्तुतः, निर्विकार दिगम्बर सहज वीतराग छवि का वर्णन करने से तो स्वयं दर्शक के मनोविकार शान्त हो जाते हैं—अब चाहे वह छवि किसी सच्चे सजीव साधु की हो अथवा जिनप्रतिमा की हो, आचार्य सोमदेव कहते हैं कि समस्त प्राणियों के कल्याण में लीन ज्ञान-ध्यान-तपः पूत मुनिजन यदि अमङ्गल हों तो लोक में फिर और क्या ऐसा है जो अमंगल नहीं होगा ?

सुखानुभवने नग्नो, नग्नो जन्मसमागमे।
बालो नग्नः शिवो नग्नो, नग्नश्छिन्नशिखोपतिः॥

नग्नत्वं सहजं लोके, विकारो वस्त्रवेष्टिनम् ।
नग्ना चेयं कथं वन्द्या सौरभेयी दिने दिने ॥
पापिष्टं पापहेतुर्वा पश्चानिष्टविचेष्टिनम् ।
अमङ्गलकरवस्तु अर्थितार्थविघाति च ॥
ज्ञानध्यानतपःपूता सर्वसत्त्वहितेरताः ।
किमन्यन्मङ्गलं लोके मुनयो पद्यमङ्गलम् ॥

—यशस्तिलक



परिच्छेद १२

जैन परम्परा की प्राचीनता

जैनों का सदैव से दृढ़ विश्वास रहता आया है कि उनका धर्म अनादि-निधन है। जीवात्मा का जो निजी परानपेक्ष स्वभाव है वही उसका धर्म है। यत: जीवात्मा शाश्वत एवं अमर है, अतएव आत्मधर्म भी शाश्वत एवं अमर है। वही जैन धर्म है।

जिन्होंने समस्त आत्मविकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली वे जिन, जिनदेव या जिनेन्द्र कहलाते हैं (जयतीति जिन:), और जिसका इष्टदेव 'जिन', है वह जैन कहलाता है (जिनो यस्य देवता स जैन:)। समस्त पूजनीय गुणों से सम्पन्न होने के कारण जिनदेव को अर्हन् या अर्हत् (अर्हं पूजायाम्, कहते हैं। सर्वज्ञता विशिष्ट कैवल्य या केवलज्ञान से युक्त होने के कारण उन्हें केवलि कहते हैं। श्रम अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा आत्मसिद्धि करने के कारण वह श्रमण कहलाते हैं, अथवा समस्त विकारों का शमन करने या पूर्णरूपेण समत्व की साधना के कारण वे शमण, समण या समन भी कहलाते हैं—शमण,समण, समन का संस्कृत रूप ही श्रमण है। अन्तर-बाह्य ग्रन्थविहीन सर्वथा निरीह एवं निष्परिग्रही होने के कारण वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। आत्मसंयमन के लिये संकल्पपूर्वक व्रतग्रहण पर बल देने के कारण व्रात्य और दुख:स्वरूप संसार-सागर से पार करने वाले धर्मतीर्थ की स्थापना करने के कारण 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। अनेकान्तात्मक स्याद्वाद के वे प्रस्तोता थे। मोक्षमार्ग का प्रतिपादन उनका अभीष्ट था। वह मार्ग निवृत्ति-प्रधान था और अहिंसा उसका प्राण था। निर्ग्रन्थ अचेलक मुनि-धर्म उसमें साधना की चरम स्थिति थी। इन्हीं विभिन्न नामों

के आधार पर यह धर्म और उसके अनुयायी विभिन्न प्रदेशों और विभिन्न कालों में जाने जाते हैं—गृहस्थ अनुयायी बहुधा श्रावक, श्रमण श्रावक, श्रमणोपासक, सागार, भव्य, स्याद्वादी, अनेकान्ती, सरावग (सरावगी, सराओगान), सेवड़े, भावड़े आदि नामों से भी जाने जाते रहे—सर्व प्रसिद्ध संज्ञा जैन या जैनी है।

आर्हत-बार्हत, व्रात्य-वैदिक, श्रमण-ब्राह्मण, मुनि-ऋषि, निर्ग्रन्थ-सग्रन्थ, निवृत्ति-प्रवृत्ति, अनेकान्ती-वेदान्ती, आदि रूपों में जैन एवं जैनेतर परम्पराओं का द्वन्द्व भारतीय संस्कृति एवं धर्म में सुदूर अतीत से रहता चला आया है। दोनों में क्रिया-प्रतिक्रियाएँ भी हुईं, आदान-प्रदान भी हुए, अनेक अंशों में एक धारा ने दूसरी को प्रभावित भी किया, तथापि अपना-अपना स्पष्ट व्यक्तित्व एवं अस्तित्व भी बनाये रक्खा। उस अहिंसा एवं निवृत्ति प्रधान आर्हत निर्ग्रन्थ श्रमण धारा का ही, जो अपने उद्गम एवं विकास में विशुद्ध भारतीय रही है, जैन धर्म प्रतिनिधित्व करता है। भारतीय संस्कृति की यह श्रमणधारा प्राग्वैदिक ही नहीं; प्रागैतिहासिक सिन्धुघाटी सभ्यता के उदय के भी बहुत पहले से चली आ रही है, इसमें कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती, जैन तत्त्वज्ञान एवं अनुश्रुतियों से ही नहीं, वरन ऋग्वेदादि वैदिक साहित्य, श्रीमद्भागवत आदि ब्राह्मणीय पुराणग्रन्थों, बौद्धसाहित्य, पुरातत्व आदि विविध साक्ष्यों से इस तथ्य का समर्थन होता है। आधुनिक प्राच्यविद् एवं इतिहासकार भी उसे बहुधा स्वीकार करने लगे हैं।

यों स्वयं भारतवासियों को जैन परम्परा की प्राचीनता में कभी कोई सन्देह नहीं रहा। वे तो ब्राह्मण वैदिक परम्परा से उद्भूत तथाकथित हिन्दु (शैव-शाक्त-वैष्णवादि अथवा श्रौत-स्मार्त्त आदि) की भाँति जैन धर्म को भी एक सनातन धर्म मानते आये हैं। अंग्रेजों के भारत प्रवेश के उपरान्त जब लगभग २००

वर्ष पूर्व, युरोपवासी प्राच्यविदों ने भारतीय संस्कृति, धर्मों, इतिहास, समाज आदि में रुचि लेना और उनका अध्ययन करना प्रारम्भ किया तो उन्होंने तत्संबंधी प्रत्येक तथ्य को शंका की दृष्टि से देखा, और जब तक किसी ठोस प्रमाण से वह तथ्य सिद्ध नहीं हो जाता उसे मान्य नहीं किया जाता था। सम्यक् साधनों का अभाव या विरलता, अनभिज्ञता एवं अनेक पूर्वबद्ध धारणाओं के कारण उन्होंने अनेक भ्रमपूर्ण निष्कर्ष निकाल लिये, अनेक भ्रामक कथन किये और नये भ्रमों को जन्म दिया। उनकी कुछ यह भी मनोवृत्ति रही कि प्रत्येक भारतीय चीज को या तो अतिअर्वाचीन घोषित कर दिया जाय अथवा मिथिक या पौराणिक गप्प करार दे दिया जाय। अस्तु; प्रारम्भ में जैनधर्म को भी बौद्धधर्म की एक अति उत्तरवर्ती शाखा घोषित कर दिया गया। खोज और अध्ययन चलते रहे, तदनुसार जैनधर्म को प्रायः बुद्धकाल जितना प्राचीन किन्तु बौद्धधर्म का ही एक सम्प्रदाय माना गया। तदनन्तर दोनों धर्मों की एक दूसरे से स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली गई, किन्तु बुद्ध और महावीर के समकालीन, क्रमशः बौद्ध और जैन धर्म का संस्थापक, तथा इन दोनों धर्मों को ब्राह्मण धर्म से ही विद्रोह रूप में निकले, सुधार आन्दोलन मान लिये। अन्ततः यह प्रमाणित हो गया कि जब कि शाक्यमुनि गौतमबुद्ध बौद्ध धर्म के संस्थापक थे, उनके ज्येष्ठ समकालीन तीर्थंकर वर्धमान महावीर जैनधर्म के प्रवर्तक नहीं, वरन् अन्तिम सुधारक थे, और यह कि बुद्ध और महावीर के बहुत पहले से जैनधर्म प्रचलित चला आता था, तथा महावीर से अढ़ाई सौ वर्ष पूर्व हुए २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ (८७७-७७७ ईसा पूर्व) भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। जब महाभारत में वर्णित घटनाओं एवं उसके प्रधान नायक नारायण कृष्ण को भी ऐतिहासिक मान्यता मिली तो स्वयं उनके सगे ताऊजात भाई २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के अस्तित्व में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं रहा--ऋग्वेद एवं

यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों में भी उनका नामोल्लेख मिला है। इसी प्रकार यदि रामायण में वर्णित घटनाओं और उसके नायक मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की सत्ता मानी जाती है तो प्रायः उसी काल में हुए २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के अस्तित्व को भी मान्य किया जाना चाहिये। इतना ही नहीं, मुनिसुव्रत से पहले १९ अन्य तीर्थंकर हो चुके थे, जिनमें से कई के नाम वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होते हैं। स्वयं प्रथम तीर्थंकर आदि पुरुष ऋषभदेव के कई प्रत्यक्ष एवं परोक्ष उल्लेख ऋग्वेद के मन्त्रों में प्राप्त हैं, और भागवत आदि ब्राह्मणीय पुराणों में उन्हें भगवान् विष्णु का एक प्रारम्भिक अवतार मान्य किया है तथा वहाँ उनके जो वर्णन प्राप्त हैं उनमें और उनसे सम्बन्धित जैन पुराणों के वर्णनों में अद्‌भुत साम्य है। महाभारतकार महर्षि व्यास ने भी ऋषभदेव का स्तवन किया है। इन साक्ष्यों के आधार पर डा० एस० राधाकृष्णन प्रभृति कई प्रौढ़ मनीषियों का अभिमत है कि ऋषभदेव की सत्ता तथा उनसे सम्बंधित जैन अनुश्रुतियों को अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता। कुछ पुरातत्त्वज्ञों का यह भी मत है कि प्रागैतिहासिक सिन्धुघाटी सभ्यता के अवशेषों में जो वृषभयुक्त नग्न कायोत्सर्ग योगियों के मुद्रांकन मिले हैं--हड़प्पा के अवशेषों में तो एक नग्न योगि मूर्ति का धड़ भी मिला है—उनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त काल एवं प्रदेश में वृषभलांछन दिगम्बर योगिराज ऋषभ की उपासना प्रचलित थी। इस सबसे यह स्पष्ट है कि जैन धर्म और इसकी संस्कृति भारतवर्ष की एक सर्वप्राचीन धर्म संस्कृति है जो वर्तमान पर्यन्त सजीव चली आई है।

इतने सुदीर्घकाल पर्यन्त सजीव सक्रिय एवं विकासशील धर्म परम्परा कालजयी हो जाती है और उसमें निहित तत्त्व सार्वभौमिक एवं सार्वकालीन महत्त्व के होते हैं। अपने आत्मौपम्य सिद्धान्त,

समन्वयात्मक, सहिष्णु उदार एवं युक्तियुक्त अनेकान्तात्मक विचार सरणि, आत्मानुशासन एवं अपरिग्रह पर आधारित अहिंसा मूलक आचार पद्धति, पुरुषार्थ प्रधान आशावादिता प्रभृति शाश्वत मूल्यों के कारण जैन धर्म प्रत्येक व्यक्ति एवं प्रत्येक परिस्थिति में ग्राह्य और उपादेय है। वह एक लोकोन्नायक सर्वोदय मार्ग है। आचार, विचार, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला, धर्मायतन, तीर्थक्षेत्र, पर्व-त्यौहार--प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में उसने भारतीय संस्कृति की महती अभिवृद्धि की है। उसकी सांस्कृतिक विरासत स्पृहणीय है।



संदर्भ के लिए देखिये–डा० ज्योति प्रसाद जैनकृत–(१) जैनिज्म, दी ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन (वाराणसी, १९५१)

(२) भारतीय इतिहास : एक दृष्टि (द्वि० सं० भारतीय ज्ञान-पीठ दिल्ली १९६६)

(३) तीर्थंकरों का सर्वोदय मार्ग (दिल्ली १९७५)

(४) रिलीजन एवं कल्चर आफ दी जैन्स (भा० ज्ञा० पी० दिल्ली द्वि० सं० १९७७)



मुद्रक : बाबूलाल जैन फागुल्ल, महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी